कैसी हो इक्कीसवीं शताब्दी ?

आचार्य महाप्रज्ञ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कैसी हो इक्कीसवीं शताब्दी?

आचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती प्रकाशन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादक : मुनि धनंजय कुमार

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

प्रकाशक : जैन विश्व भारती, लाडनूं-341306

द्वितीय संस्करण : 2003

मूल्य : 40.00

KAISI HO IKKEESAWEEN SHATABDEE

ACHARYA MAHAPRAJNA

मुद्रक : सन्मति सर्विसेज, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुति

इक्कीसवीं शताब्दी के आगमन की प्रतीक्षा हो रही है। एक दशक से उसमें प्रवेश का स्वर सुनाई दे रहा है। क्या उसमें कुछ नया घटित हो रहा है? बीसवीं शताब्दी में जो हुआ है, उसकी पुनरावृत्ति होगी, पुनरुच्चार होगा या सब कुछ वही होगा जो बीसवीं शताब्दी में हुआ है?

आते समय स्वागत कपड़ों का होता है और जाते समय स्वागत गुणों का होता है। क्या इस चिरपरिचित नीति को बदल पाएंगे? क्या आते समय स्वागत गुणों का कर पाएंगे? यदि हम इक्कीसवीं शताब्दी को अध्यात्म की शताब्दी बना पाएं, अहिंसा और मानसिक शान्ति की शताब्दी बना पाएं, विश्व मैत्री और विश्व शांति की शताब्दी बना पाएं तो सचमुच हमारी प्रतीक्षा सार्थक होगी। हम आने वाली शताब्दी को अध्यात्म की शताब्दी बनाने का संकल्प लें।

15 सितंबर, 1999
अध्यात्म साधना केन्द्र
दिल्ली

—आचार्य महाप्रज्ञ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संपादकीय

- प्रत्येक व्यक्ति सोचता है आजकल
  कैसा होगा कल?
  क्या होगा कल?
  किसने देखा है कल?
  किसका होगा कल?
  क्या आज से बदतर होगा कल?
  क्या आज से बेहतर होगा कल?
  चिन्ता है कल की
  चिन्तन है कल का
  कामना है सुखद कल की
  भावना है सुखद फल की।

- बीत रही है बीसवीं शताब्दी
  सामने है इक्कीसवीं शताब्दी
  उभर रहे हैं अनेक प्रश्न
  नाना कल्पनाएं नाना स्वप्न
  वह भौतिकवाद की होगी या अध्यात्मवाद की?
  पदार्थवाद की होगी या आत्मवाद की?
  मानव का मूल्य बढ़ेगा या पदार्थ का?
  चैतन्य का मूल्य बढ़ेगा या जड़ का?
  कैसा होगा इक्कीसवीं शताब्दी का मानव?
  क्या वह बढ़ा पाएगा अपना वर्चस्व?
  क्या बुझेगी आग हिंसा और अशांति की?
  फैलेगी शीतल सुवास अहिंसा और शांति की?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- महाप्रज्ञ का अनमोल सृजन
  प्रस्तुत है मौलिक चिन्तन
  शुभ भविष्य का आकलन
  देता है एक नया दिशादर्शन
  बढ़ेगा चैतन्य का मूल्य
  मानव का अधिमूल्य
  शांति, संतुलन और समन्वय का पथ
  देगा जीवन को एक नया अथ
  बदलेगी दिशा, बदलेगी दृष्टि
  संभव बनेगी शुभ भविष्य की सृष्टि।

- कैसी हो इक्कीसवीं शताब्दी?
  इस यक्ष प्रश्न का उत्तर
  अनुपम और अनुत्तर
  अध्यात्म और संयम का मंत्र
  चैतन्य का श्रीयंत्र
  शिक्षा का तंत्र
  रचेगा एक नया इतिहास
  उज्ज्वल निर्मल आकाश
  एक नया उच्छ्वास
  जीवन का हर श्वास
  देगा एक नया आश्वास
  नूतन विश्वास
  अपरिमेय उल्लास।

17 सितम्बर, 1999 —मुनि धनंजय कुमार

अध्यात्म साधना केन्द्र

दिल्ली

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रमांक

- कैसी हो इक्कीसवीं शताब्दी? 1
- आर्थिक विकास और नैतिक मूल्य 4
- प्रश्न है परिष्कार का 28
- स्वस्थ समाज रचना 50
- पर्यावरण 78
- अहिंसा 103
- बदलाव कैसे आए? 116
- शिक्षा 121

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कैसी हो इक्कीसवीं शताब्दी?

बीसवी शताब्दी इक्कीसवीं शताब्दी के स्वागत की तैयारी कर रही है। वह तैयार है अपना उत्तराधिकार सौंपने के लिए। उसने जो अर्जित किया है, वह विशाल है। उसने विज्ञान के क्षेत्र में बहुत बड़ी प्रगति की है, पूरी दुनिया को एक पीठ पर लाकर बिठा दिया है, क्षेत्रीय दूरियां समाप्त हो गई हैं। एक क्षण में दुनिया के किसी भी हिस्से से आप बात कर सकते हैं, संवाद का आदान-प्रदान कर सकते हैं। कुछ घंटों में दुनिया के एक हिस्से से दूसरे हिस्से में आ-जा सकते हैं। उपग्रह ने गुप्त रहस्य जैसे शब्द को अर्थहीन बना दिया है। जीन के विकास ने सृष्टि को बदलने का सूत्र अपने हाथ में थाम लिया है। और भी बहुत कुछ हुआ है। यह केवल अंगुलि-निर्देश है।

राजनीति के क्षेत्र में बीसवीं शताब्दी के पास देने को बहुत कुछ है—लोकतन्त्र, समाजवाद, साम्यवाद, पूंजीवाद और गांधीवाद।

व्यवसाय और उद्योग के क्षेत्र में उसने कीर्तिमान स्थापित किए हैं। बहुउद्देशीय अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियों का जाल बिछा हुआ है। खुला बाजार की नई संस्कृति पनप चुकी है।

भाषा, जाति, वर्ण और सम्प्रदाय के नाम पर मनुष्यों को बांटने का सर्वाधिक श्रेय इसी शताब्दी को प्राप्त है।

शस्त्र-निर्माण के क्षेत्र में जो विकास हुआ है, उसकी सीमा अणु-अस्त्र ही नहीं है। उससे आगे भी बहुत कुछ हो रहा है। हिंसा और आतंक का मुक्त वातावरण बना हुआ है।

इस सारी विकास-सम्पदा की फलश्रुति है—

1. वैज्ञानिक प्रगति 2. लोकतंत्रीय समाजवादी दृष्टिकोण 3. पदार्थवादी दृष्टिकोण 4. सुविधावादी दृष्टिकोण 5. आर्थिक विकास 6. पर्यावरण का प्रदूषण 7. नैतिक मूल्यों का ह्रास।

इनमें कुछ इष्ट हैं और कुछ अनिष्ट। इष्ट की तालिका में वैज्ञानिक प्रगति, आर्थिक विकास और लोकतंत्रीय समाजवादी दृष्टिकोण को रखा जा सकता है। शेष सब शान्तिपूर्ण सामाजिक जीवन के लिए इष्ट नहीं हैं। इनमें अधिकतम अवांछनीय है—नैतिक मूल्यों का ह्रास। पर्यावरण को प्रदूषित करने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में उसका ही प्रमुख हाथ है। क्या इक्कीसवीं शताब्दी का पहला दिन नैतिक मूल्यों के विकास का पहला दिन होगा? यदि हो तो इक्कीसवीं शताब्दी मानवीय अस्तित्व के लिए स्वर्णिम होगी। बीसवीं शताब्दी से मिलने वाली अच्छाइयां नैतिकता की पृष्ठभूमि पर ही विकसित हो पाएंगी।

क्या नैतिक मूल्यों को प्रतिष्ठित किए बिना वैज्ञानिक विकास मानवीय अस्तित्व के लिए कल्याणकारी बनेगा?

क्या नैतिक मूल्यों को प्रतिष्ठित किए बिना लोकतंत्र और समाजवाद मानवीय अस्तित्व को सुरक्षा देगा?

क्या नैतिक मूल्यों को प्रतिष्ठित किए बिना पदार्थवादी और सुविधावादी दृष्टिकोण चेतना को विकसित करेगा?

क्या नैतिक मूल्यों को प्रतिष्ठित किए बिना आर्थिक विकास मनुष्य को सुखी बना पाएगा? आर्थिक असदाचार को मिटा पाएगा?

क्या नैतिक मूल्यों को प्रतिष्ठित किए बिना पर्यावरण के प्रदूषण की समस्या को सुलझाया जा सकेगा?

इक्कीसवीं शताब्दी समन्वय की शताब्दी होगी। उसमें धन और सत्ता का स्वतंत्र मूल्य नहीं होगा। वे नैतिक मूल्यों से अनुप्राणित होकर ही उच्छ्वास लेंगे। 'नैतिक मूल्यों का संकट है'—यह स्वर यत्र-तत्र-सर्वत्र सुनाई दे रहा है। वह क्यों है? इस पर गंभीर चिन्तन नहीं होता। प्रश्न है—गम्भीर चिंतन कौन करे? सत्ता के सिंहासन पर बैठे लोग अगले चुनाव में अपने दल को विजयी बनाने की चिन्ताएं करते हैं। बड़े उद्योगपति और बड़े व्यवसायी राजनीति पर अपना प्रभुत्व बनाए रखने की चिन्ता में व्यस्त हैं। बड़े-बड़े साधु-संन्यासी अपने आश्रम और पीठों की ओर जनता को आकृष्ट करने की चिन्ता में व्यस्त हैं। नैतिक मूल्यों के विकास की चिन्ता कौन करे और क्यों करे? बीसवीं शताब्दी में कुछ नाम अंगुलियों पर आए—राजा राममोहन राय, स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गांधी, आचार्य विनोबा भावे, आचार्य तुलसी आदि। नैतिक मूल्यों के विकास में इनका महत्त्वपूर्ण अवदान है। किन्तु वर्तमान अतीत नहीं बनता। आज अपेक्षा है उस व्यक्तित्व की जो जातिवाद, साम्प्रदायिक कट्टरतावाद की भूमि से ऊपर उठा हुआ हो। समस्या को सुलझाने के लिए इसके साथ दो बातें और अपेक्षित हैं—सतत समर्पण और गंभीर चिंतन। मैं इस बात को फिर दोहराना चाहता हूं—नैतिक मूल्यों की समस्या पर गंभीर चिंतन होना चाहिए। गंभीर चिन्तन से मेरा तात्पर्य है—समस्या के उपादान अथवा मूल कारण पर चिन्तन होना चाहिए। हमारा चिन्तन गौण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारण पर अधिक चलता है। इससे समस्या सुलझती नहीं।

हमारा चिन्तन गौण कारण अथवा सतही स्तर पर कैसे होता है, इसे स्पष्ट करना जरूरी है। हर आदमी का लक्ष्य बना हुआ है—अधिकतम उपभोग, अधिकतम सुविधा और अधिकतम धन। इस लक्ष्य के गर्भ में नैतिक मूल्यों की समस्या छिपी हुई है। यह हमारे चिन्तन का विषय नहीं बनता। उक्त लक्ष्य की पूर्ति के लिए एक आदमी वैधानिक तरीके से व्यवसाय करता है। दूसरा आदमी कानून का अतिक्रमण कर येन-केन-प्रकारेण धन को प्राप्त करता है। पहला साहूकार है और दूसरा अपराधी। समाज अपराध को मिटाना चाहता है। उसी के परिपार्श्व में नैतिक मूल्यों के संकट पर चिन्तन होता है। एक साहूकार और एक अपराधी—दोनों का लक्ष्य समान है—अधिकतम उपभोग, अधिकतम सुविधा और अधिकतम धन। यदि लक्ष्य में अपराध की गंध नहीं है तो लक्ष्य पूर्ति के तरीके में उसकी गंध कहां से आएगी? यदि लक्ष्य में ही त्रुटि है तो फिर साहूकार और अपराधी के लिए भेदरेखा कहां होगी? जिसमें वैधानिक तरीके से काम करने की क्षमता है, उसने कानून की छत्रछाया में अपना लक्ष्य पूरा करना चाहा। जिसमें वैधानिक तरीके से काम करने की क्षमता नहीं है, उसने अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए कानून को तोड़ा। जहां तरीके पर विचार करें वहां साहूकार का दायरा अलग है, अपराधी का कटघरा अलग है। जहां लक्ष्य पर विचार करें, वहां साहूकार और अपराधी—दोनों ही एक कारागृह में बन्दी हैं।

केवल तरीकों पर विचार करने से समस्या सुलझ नहीं पाएगी। लक्ष्य में जो भूल है, उसी पर हमारा गंभीर चिन्तन होना चाहिए। पहली भूल को सुधारे बिना दूसरी भूल को सुधारने का प्रयत्न क्षणिक उपचार होगा, स्थायी समाधान कभी नहीं।

इक्कीसवीं शताब्दी के प्रवेश पर लम्बे समय से चर्चा हो रही है। स्व. प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने एक बार कहा था—'हम विकसित तकनीक, विकसित उद्योग के साथ इक्कीसवीं शताब्दी में प्रवेश करेंगे।' विकास के लक्ष्य हैं—सुपर कम्प्यूटर, रोबोट, अन्तरिक्ष में खेती और नगर-निर्माण तथा अन्तरिक्ष की यात्रा। प्रश्न एक ही शेष है—आखिर विकास किसलिए? विकास के लिए मनुष्य है या मनुष्य के लिए विकास है? यदि विकास के लिए मनुष्य है तो वह भी विकास की मशीन का एक पुर्जा मात्र है। यदि मनुष्य के लिए विकास है तो मनुष्य के अस्तित्व पर विचार करना होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आर्थिक विकास और नैतिक मूल्य

आर्थिक विकास एक षडक्षरी (छह अक्षर वाला) वशीकरण मंत्र है। इसकी आराधना में जितनी शक्ति लग रही है, उतनी अन्य किसी आराधना में नहीं लग रही है। धर्म और दिव्य शक्तियों की आराधना भी आर्थिक उपलब्धि के लिए हो रही है। यह अहेतुक भी नहीं है। इन्द्रिय चेतना के स्तर पर जीने वाले समाज का केन्द्रीय बिन्दु है—इन्द्रिय तृप्ति। उसका साधन है अर्थ। इसलिए अर्थ के प्रति आकर्षण होना स्वाभाविक है।

इन्द्रिय चेतना के स्तर पर जीने का दूसरा पहलू है—मानसिक तुष्टि। उसके नाना रूप हैं—पूजा, प्रतिष्ठा, सम्मान। इनकी पूर्ति का भी सर्वाधिक शक्तिशाली साधन है अर्थ। इसलिए अर्थ की आराधना अहेतुक नहीं है।

इन्द्रिय चेतना के स्तर पर जीने का तीसरा पहलू है—सुविधावादी दृष्टिकोण। हर मनुष्य अधिक से अधिक सुविधा चाहता है। उसका साधन है अर्थ। इसलिए अर्थ के प्रति आकर्षण कम नहीं हो सकता। इस सुविधावादी मनोवृत्ति का फायदा उठा रहा है व्यावसायिक विज्ञान और बड़ी-बड़ी कम्पनियां। वे नित नए सुविधा के साधनों का निर्माण कर मनुष्य के शारीरिक बल एवं मनोबल को यंत्र-बल से आच्छादित कर रही हैं।

अधिकार की भावना

इन्द्रिय चेतना के स्तर पर जीने का चौथा पहलू है—अधिकार की मौलिक मनोवृत्ति।

एक शिष्य अध्यात्म और विज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन कर रहा था। उसने मनोविज्ञान को भी पढ़ा। उसके मन में एक प्रश्न उभरा। वह उसे समाहित नहीं कर पाया। उसने गुरु से जिज्ञासा की—'गुरुदेव! मनोविज्ञान का प्रवर्तक फ्रायड कहता है—हमारी सारी प्रवृत्तियों का मूल है—सेक्स (कामवृत्ति)। क्या यह सही है?' गुरु ने कहा, 'हम अनेकान्तवादी हैं इसलिए उसे अस्वीकार न करें किन्तु सीधा स्वीकार भी न करें। यह एक सापेक्ष सत्य है, पूर्ण सत्य नहीं है। पूरी सचाई के लिए कर्मशास्त्र का अध्ययन करना होगा।' गुरु ने मोहनीय कर्म का विवेचन करते हुए समझाया—'मूल वृत्ति लोभ है। शेष वृत्तियां इससे उपजी हुई हैं। इसे हम लोभ कहें, राग कहें या परिग्रह।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यही मूल वृत्ति है। लोभ है तो क्रोध आता है। क्रोध की पृष्ठभूमि में छिपा रहता है लोभ। अभिमान क्या है? वह भी लोभ का उपजीवी है। लोभ है तो माया होती है।'

शिष्य ने जिज्ञासा की—'गुरुदेव! क्या मनोविज्ञान का यह मत गलत है—काम मूल वृत्ति है?'

गुरु ने कहा, 'वत्स! काम क्या है? वह लोभ की उपजीवी वृत्ति है। लोभ और काम—दोनों जुड़े हुए हैं। निर्युक्तिकार ने काम के दो प्रकार किए हैं—इच्छा-काम और मदन-काम। मदन-काम (सेक्स) मूल नहीं है, मूल है इच्छा-काम।'

गुरु ने कहा, 'फ्रायड ने जो कहा है, वर्तमान मनोविज्ञान में वह अवधारणा भी बदल गई है। वर्तमान मनोवैज्ञानिक यह मानने लग गए हैं—मूल वृत्ति सेक्स नहीं है। मूल वृत्ति है—अधिकार की भावना। वैज्ञानिक ने एक प्रयोग किया। ऐसा कृत्रिम तालाब बनाया, जिसमें तापमान को नीचे गिरा दिया गया। तालाब में जितने जलचर प्राणी थे, उनकी सारी काम-वृत्ति समाप्त हो गई। सेक्स का सम्बन्ध व्यक्ति के तापमान से है। तापमान के नीचे गिर जाने पर भी अधिकार की भावना उनमें बनी रही। इस विषय पर वैज्ञानिकों ने बहुत गहरा अध्ययन किया है। उनका निष्कर्ष है—अपने अधिकार को, अपने निवास-स्थान को छोड़ना कोई पसन्द नहीं करता।'

दो महत्त्वपूर्ण शब्द हैं—आगार और अनगार। अनगार वह है, जिसने अधिकार की वृत्ति को समाप्त कर दिया, घर को छोड़ दिया। अनगार का अर्थ है—मूल मनोवृत्ति पर प्रहार करने वाला। चिड़िया घोंसला बनाती है। पशु घूरी बनाते हैं। चिड़िया पेड़ पर बैठेगी और एक प्रकार की आवाज करेगी। उसका अर्थ है—इस टहनी पर मेरा अधिकार हो गया है। अब कोई इस पर बैठने का प्रयास न करे। कुछ पशु ऐसे हैं, जिनमें गन्ध की ग्रन्थि होती है। शेर के मूत्र में गंध होती है। सब पशु समझ जाते हैं कि वहां शेर रहता है, उस ओर नहीं जाना है। शेर अपना अधिकार जताता है गंध के द्वारा।

छोटे से छोटे प्राणी में अपना घर बनाने की वृत्ति है, अपना अधिकार जताने की मनोवृत्ति है। बहुत कठिन बात है अगार को त्यागना। प्राणी की मूल मनोवृत्ति है—घर पर अधिकार करना। जिसने यह अधिकार छोड़ दिया, वह अनगार हो गया, उसने एक नई यात्रा शुरू कर दी।

परिग्रह : तीन प्रकार

जैन तीर्थंकरों ने दो मूल दोष बतलाए—आरम्भ और परिग्रह। इनमें भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल है परिग्रह। हमारी धारणा पदार्थ पर अटकी हुई है। पदार्थ परिग्रह है पर मूल परिग्रह नहीं है। परिग्रह के तीन प्रकार हैं—कर्म, शरीर और पदार्थ। जड़ में कर्म है, जहां से मूर्च्छा और अधिकार की भावना आ रही है। दूसरा परिग्रह है शरीर। तीसरा परिग्रह है—पदार्थ—धन, धान्य, मकान आदि। आदमी घर छोड़कर भी शरीर की आसक्ति को नहीं छोड़ता तो वह परिग्रह को नहीं छोड़ता। जो शरीर की आसक्ति को छोड़ देता है, वह होता है पूरा अनगार। जब शरीर की आसक्ति छूटेगी तब दूसरे परिग्रह छूटेंगे, इसलिए जैन आचार्यों ने भेदविज्ञान पर बल दिया। हम भेदविज्ञान का अभ्यास करें, परिग्रह की वृत्ति पर प्रहार होगा। यह भेदविज्ञान अनेक बीमारियों की चिकित्सा भी है, पर इसके लिए प्रयोग करना आवश्यक है, अन्तर के रसायनों को बदलने की प्रक्रिया का अभ्यास करना अपेक्षित है। विज्ञान कहता है—एक लाख से ज्यादा प्रकार के प्रोटीन हमारे शरीर के भीतर बनते हैं। रसायनों से भरा पड़ा है हमारा शरीर। इतना बड़ा कारखाना शरीर के भीतर है। उसको चलाने वाला चाहिए, उसका स्विच बोर्ड मिलना चाहिए। न जाने वह कितना भीतर है। हम कैसे इन अध्यात्म रहस्यों को समझने का प्रयत्न करें? जब यह प्रश्न क्रियान्वित होगा, सारी धारणाएं बदल जाएंगी।

हिंसा मूल नहीं है

परिग्रह की बात छूटती है, अध्यात्म की चेतना अपने आप जाग जाती है। जब तक आदमी परिग्रह के अधिकार को पकड़े रखेगा, तब तक लोभ प्रासंगिक बना रहेगा, हिंसा कभी समाप्त नहीं होगी। हिंसा मूल नहीं है, मूल है परिग्रह। आचारांग सूत्र में भगवान महावीर ने हिंसा के जितने कारण बतलाए हैं, उनमें मुख्य कारण है—लोभ, परिग्रह, अधिकार की मनोवृत्ति। म्यूनिख (पश्चिमी जर्मनी) के चिड़ियाघर के डायरेक्टर ने बताया—जब बंदर को जंगल से लाते हैं तब यहां रहना पसन्द नहीं करता किन्तु जब वह पिंजड़े पर अपना अधिकार जमा लेता है तब वह अन्दर किसी दूसरे को घुसने नहीं देता। यह अधिकार और परिग्रह की भावना से प्रभावित प्रवृत्ति है। यह छूटती है तो सब कुछ छूट जाता है, अन्यथा कोई भी पदार्थ राग या मूर्च्छा का कारण बन जाता है।

इन्द्रिय-तृप्ति, मन की तुष्टि, सुविधावादी दृष्टिकोण और अधिकारों की मौलिक मनोवृत्ति का परिष्कार किए बिना अहिंसक समाज अथवा शोषण-विहीन समाज का सपना कोरा सपना ही रहेगा, वह साकार नहीं हो पाएगा। क्या इक्कीसवीं शताब्दी में इन्द्रिय चेतना के फलितों को बदलने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की दिशा उद्घाटित होगी? वह दिशा है—अतीन्द्रिय चेतना के जागरण के लिए मानव समाज का प्रस्थान।

मंत्र के अर्थ के साथ तादात्म्य

विकास की यात्रा अनवरत चालू है। अविकास से विकास की ओर गति करना मुनष्य का लक्ष्य रहा है। उस लक्ष्य की पूर्ति के लिए अनेक उपाय खोजे गए। उनमें एक उपाय है—प्रार्थना, मानसिक संकल्प की अभिव्यंजना। शक्ति अव्यक्त रहती है अथवा अव्यक्त में शक्ति निहित है। उसकी अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है ज्योति। यह दीप, मणि, विद्युत अथवा सूर्य के बिम्ब से निःसृत होने वाली ज्योति नहीं है। यह है अन्तर में उद्भाषित होने वाली ज्योति। उस ज्योति की प्रतिबंधक शक्ति निशा नहीं है, निशा में होने वाला तम भी नहीं है। उसके लिए दिन और रात का कोई भेद नहीं है। उस ज्योति का आवारक है मोह, मूर्च्छा या मूढ़ता। मनुष्य दिग्मूढ़ हो रहा है। दिशामोह का लक्षण है—कथनी और करनी का द्वैध। वह उच्चारण करता है—'सत्यमेव जयते' और आचरण करता है—'असत्यमेव जयते'। उसका उद्गान है—'तमसो मा ज्योतिर्गमय' और आह्वान है—'तमसो मा संतमसं गमय'। वैदिक ऋषि ने 'सत्यमेव जयते' आदि मंत्र का पाठ किया था मोह से निर्मोह की भूमिका तक पहुंचने के लिए। उसके शब्दोच्चार मात्र से वहां नहीं पहुंचा जा सकता, जहां पहुंचना है। आवश्यक है मंत्र के अर्थ के साथ तादात्म्य की साधना।

समाज का वर्तमान मानस आर्थिक मोह से अधिक प्रभावित हो रहा है। संस्कृत का सूक्त है—'अर्थमनर्थं भावय नित्यम्'। सामाजिक भूमिका पर खड़े होकर मैं नहीं कहना चाहता कि अर्थ अनर्थ का मूल है। सचाई यह है कि अर्थ के बिना कोई भी अर्थ सिद्ध नहीं होता। अर्थ के विषय में एक सापेक्ष दृष्टिकोण का निर्माण आवश्यक है। धर्मग्रन्थों में अर्थ के जितने दोष बतलाए गए हैं, वे सत्यांश से परे नहीं हैं। अर्थशास्त्र में विकास के लिए अर्थ के मूल्य का प्रतिपादन किया गया है। उसमें भी सत्यांश है। दोनों को मिलाकर एक सापेक्ष सत्य की अवधारणा निर्मित करनी है। उसका नाम होगा—संतुलित अर्थशास्त्र। अर्थ अनर्थ है, इस अवधारणा को निरपेक्ष नहीं माना जा सकता। इसका हेतु है—अर्थ के बिना आदमी अपनी भूख भी नहीं बुझा सकता। आर्थिक विकास ही सब कुछ है, इस मान्यता ने मनुष्य के चरित्र का अपभ्रंश किया है। इसलिए इस अवधारणा को सीमित करना नितान्त जरूरी है। तात्पर्यार्थ यह है—केवल धर्मशास्त्र और केवल अर्थशास्त्र की अवधारणा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाज को मान्य नहीं हो सकती। उससे समाज की समस्या का समाधान भी नहीं हो सकता।

वैज्ञानिक शोध की दिशा

वैज्ञानिक शोध व्यवसाय, शस्त्र-निर्माण, चिकित्सा और सुविधा पर केन्द्रित है। चेतना और सत्य की दिशा में उसकी गति मंद है। सत्ता की पीठ पर बैठे हुए लोग विज्ञान का अधिकतम उपयोग अपनी सुरक्षा और प्रभुत्व की संवृद्धि के लिए करना चाहते हैं। उद्योगपति विज्ञान का उपयोग अपने व्यवसाय को बढ़ाने के लिए करना चाहता है। सत्य की शोध का क्षेत्र सत्यान्वेषी दार्शनिकों और वैज्ञानिकों से शून्य जैसा हो रहा है। इस स्थिति में समाज व्यवस्था को बदलने का स्वप्न क्या दिवास्वप्न नहीं है? चरित्र निर्माण और व्यक्ति निर्माण की कल्पना क्या तर्कशास्त्र का आकाशकुसुम नहीं है? इन्द्रिय चेतना का मयूरपंख अपने नाना रंगों से जनमानस को सम्मोहित कर रहा है। इस सम्मोहन का समुचित उपचार है अतीन्द्रिय चेतना का विकास। अतीन्द्रिय चेतना से हमारा तात्पर्य पारदर्शी चेतना, दूरदर्शन, दूरश्रवण जैसी सिद्धि की चेतना से नहीं है। उसका तात्पर्य है इन्द्रिय और मन की चेतना से परे जाकर अपने आपको देखना, समाज को देखना, पदार्थ को देखना और विश्व को देखना।

इन्द्रिय चेतना का सम्मोहन

इन्द्रिय चेतना के सम्मोहन में केवल पदार्थ का दर्शन होता है, न समाज के सन्दर्भ में पदार्थ का और न पदार्थ के सन्दर्भ में समाज का दर्शन होता है। समाज वाचिक उपचार से अधिक मूल्य नहीं रखता। इस स्थिति में समाज को बदलने और समाज-व्यवस्था का नवीनीकरण करने की बात कथमपि आगे नहीं बढ़ पाती। समाजवाद और साम्यवाद के लिए सबसे बड़ा राहू इन्द्रिय चेतना का सम्मोहन बना है। चाणक्य जैसे अनुभवी राजनीतिज्ञ ने कहा था—शासक को इन्द्रियजयी होना चाहिए। राज्यस्य मूलं इन्द्रियजयः (चाणक्य सूत्र-4) इस उक्ति में छिपे सत्य को समाज व्यवस्था को बदलने की चिन्ता करने वाले संभवतः देख नहीं पा रहे हैं। एकाधिकार और तानाशाही प्रवृत्ति और मनोवृत्ति ने इन्द्रिय चेतना को खुलकर खेलने का अवसर दिया। समाजवाद की कल्पना साकार नहीं बन सकी। इस ध्रुव सत्य की घोषणा की जा सकती है—अतीन्द्रिय चेतना की पृष्ठभूमि का निर्माण किए बिना समाजवाद का अवतरण नहीं किया जा सकता।

अतीन्द्रिय चेतना का अर्थ है—व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा, उपभोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की सीमा, इन्द्रिय-तृप्ति के संयम की चेतना का जागरण। चेतना की उपेक्षा कर केवल उत्पादन और वितरण की समानता के आधार पर समाज की व्यवस्था को नहीं बदला जा सकता। समानता की व्यवस्था करने वाले स्वयं विषमता उत्पन्न करने लग जाते हैं। यदि उनकी चेतना का रूपान्तरण नहीं हुआ तो क्या होगा? इतिहास साक्षी है—नादिरशाह ने नई व्यवस्था को जन्म नहीं दिया था और अकबर ने पुरानी व्यवस्था को बदला नहीं था। एक व्यक्तित्व क्रूरता का प्रतीक है और दूसरा समन्वय एवं सामंजस्य का प्रतीक है। समाज-व्यवस्था को बदलने का लेखा-जोखा पदार्थ की भाषा में ही किया गया है। पदार्थ की प्रकृति अनजानी नहीं है। स्पर्धा, प्रतिक्रिया, उखाड़-पछाड़—ये सब उसके सहभावी गुण हैं। आइंस्टीन जैसे धुरीण वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुंचे—केवल ज्ञेय की शोध में लगा हुआ विज्ञान समस्या का समाधान नहीं है। ज्ञाता की प्रकृति और प्रवृत्ति को जानकर ही हम कुछ नया सृजन कर सकते हैं।

असफलता का पहला कदम

आकांक्षा, स्पर्धा, प्रतिक्रिया, संघर्ष, क्रूरता और करुणा—इन सबके बीज मानवीय चेतना में छिपे हुए हैं। संग्रह की चेतना भी मनुष्य में है और उसके विसर्जन की चेतना भी मनुष्य में हैं। मनुष्य की चेतना को बदले बिना केवल आचारसंहिता और दण्डसंहिता के आधार पर नए समाज के निर्माण का स्वप्न मृगमरीचिका से अधिक कुछ नहीं है। राजनीति के चाणक्य-पुरुषों ने दण्ड को बहुत आवश्यक माना है। इस मान्यता में व्यवस्थात्मक सार नहीं है, ऐसा कहना भी कठिन है। आपराधिक प्रवृत्तियों को रोकने के लिए दण्ड की उपयोगिता मान भी ली जाए, फिर भी समाज व्यवस्था को बदलने का वह आधार नहीं बनता। उसका आधार बन सकता है—सम्यग्दर्शन, दृष्टिकोण का परिवर्तन। हम दृष्टिकोण को बदले बिना ही नवाचार को स्थापित करने की छलांग लगाना चाहते हैं। यह असफलता का पहला कदम है। प्रायः सर्वत्र यही कदम उठ रहा है। दृष्टिकोण को बदलने का प्रयत्न कब कहां हो रहा है?

अधिकार, स्वामित्व और ममत्व की भावना की एक शक्तिशाली ग्रन्थि मस्तिष्क में बनी हुई है। संविभागी समाज-व्यवस्था का वह सबसे बड़ा अवरोध है। उस ग्रन्थि का विमोक्ष सरलता से नहीं किया जा सकता। उसकी तरतमता को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। किसी मनुष्य के मस्तिष्क में वह सूती धागे की गांठ और किसी मनुष्य के मस्तिष्क में रेशमी धागे की गांठ बनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुई है। गांठ की तरतमता के आधार पर प्रयत्न की तरतमता भी अपेक्षित है। सामान्य प्रयत्न से यह कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। सिद्धान्त, योजना और वाङ्मय—ये परिवर्तन के सहकारी कारण हो सकते हैं। मूल कारण है मानवीय मस्तिष्क की धुलाई। उसके लिए आवश्यक है प्रयोगात्मक अथवा रचनात्मक कार्यशैली। तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य श्री जयाचार्य ने साधु-संस्था की आहार-व्यवस्था को संविभागी बनाने का निर्णय लिया। संविभागी व्यवस्था की और साथ-साथ मस्तिष्कीय परिवर्तन के प्रयोग किए। आहार के समय प्रतिदिन साधुओं को 'टहुका' नामक प्रपत्र सुनाया जाता। संविभाग की उपयोगिता का रस आहार के रस के साथ-साथ संपोषण देने लगा। धीमे-धीमे व्यवस्था स्वाभाविक बन गई। मस्तिष्क में संविभाग का मूल्य प्रतिष्ठित हो गया। सामाजिक मूल्यों को बदलने के लिए नए सामाजिक मूल्यों को मस्तिष्क में प्ररूढ़ करना परिवर्तन की अनिवार्य प्रक्रिया है। परिवर्तन के बीज की उपेक्षा कर सीधे फल तोड़ने की बात कभी न सोचें।

वरदान : गरीबी या अमीरी?

गरीबी अभिशाप है, इसे स्वीकार करने में कोई ननु नच नहीं करेगा। अमीरी वरदान है, इसकी सम्मति में भी सब साथ हैं। हर मंतव्य, वक्तव्य या सिद्धान्त सापेक्ष है। यह अनेकान्तवाद की उदात्त घोषणा है। सापेक्षदृष्टि से माना जा सकता है—गरीबी अभिशाप है। जीवन चलाने के लिए रोटी, मकान, वस्त्र, औषधि आदि की अपेक्षा है। गरीबी में अपेक्षा की पूर्ति नहीं होती। इस दृष्टिकोण से कहा जा सकता है—गरीबी अभिशाप है। एक अमीर व्यक्ति जीवनोपयोगी सब वस्तुओं को सुलभ कर सकता है। इस अपेक्षा से कहा जा सकता है—अमीरी वरदान है।

प्रत्येक वस्तु सप्रतिपक्ष है, उसका दूसरा पक्ष भी होता है। सप्रतिपक्षता के सिद्धान्त के आधार पर कहा जा सकता है—गरीबी वरदान है और अमीरी अभिशाप है। गरीबी वरदान है, यह एक समाजवादी चिन्तक को कभी मान्य नहीं हो सकता। सामान्यतः ऐसा कहना मुझे भी इष्ट नहीं है किन्तु सत्य को देखने का एक ही कोण नहीं है। संवेदनशीलता या करुणा के अंकुर गरीबी की उर्वरा में पनपते हैं। उनके लिए अमीरी एक बंजर भूमि है। जैसे लाभ होता है, वैसे ही लोभ बढ़ता है, आसक्ति बढ़ती है। जैसे लोभ बढ़ता है, वैसे ही क्रूरता बढ़ती है।

मैं गरीबी को मनोवृत्ति के स्तर पर देखता हूं। अमीरी को भी मनोवृत्ति के स्तर पर ही देखना उचित होगा। पेट भरने को रोटी न मिले, वह अभाव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की स्थिति है। यह सर्वथा अवांछनीय है। गरीबी की रेखा के नीचे जीवन जीने वाला अभाव का जीवन जीता है। अभाव का जीवन जीने वालों में भी गरीबी की मनोवृत्ति नहीं पाई जाती। उनमें उदारता, प्रामाणिकता या नैतिकता के आचरण का स्पष्ट दर्शन होता है। अमीरी की मनोवृत्ति में ये लक्षण नहीं पाये जाते या अल्पमात्रा में पाए जाते हैं। इस मनोवृत्ति के आधार पर गरीबी को वरदान और अमीरी को अभिशाप कहना असंगत नहीं होगा। इस सिद्धान्त की स्थापना में गरीबी को बनाए रखने का समर्थन नहीं है किन्तु गरीबी की सहजीवी मनोवृत्ति के अध्ययन की दिशा को उद्घाटित करने का प्रयत्न है। हमें इस दिशा में अनुसंधान करना चाहिए। एक सामान्य स्थिति में जीने वाला गरीब आदमी प्रामाणिकता या नैतिकता में निष्ठा रखने वाला कैसे होता है? अमीरी की अवस्था में जीने वाला व्यक्ति प्रामाणिकता या नैतिकता से विमुख क्यों होता है?

तीसरा विकल्प

गरीबी में अभाव दुःख देता है इसलिए उसको बनाए रखने का विकल्प मान्य नहीं हो सकता। अमीरी में पदार्थ की आसक्ति या मूर्च्छा दुःख देती है, इसलिए अमीरी का विकल्प भी मान्य नहीं होना चाहिए। एक तीसरा विकल्प खोजना होगा। अनेकान्त में तीसरे विकल्प की अवधारणा मान्य है। नित्य एक विकल्प है। अनित्य दूसरा विकल्प है। तीसरा विकल्प है—नित्यानित्य।

गरीबी एक विकल्प है। अमीरी दूसरा विकल्प है। तीसरा विकल्प है गरीबी+अमीरी। इस तीसरे विकल्प में जीवन-यापन के साधनों का अभाव नहीं होता और धन के प्रति आसक्ति या मूर्च्छा नहीं होती। साधन का भाव और आसक्ति का अभाव—ये दोनों मिलकर तीसरे विकल्प का निर्माण करते हैं।

अर्थ-व्यवस्था और समाज-व्यवस्था को समीचीन बनाने के लिए तीसरी जाति के व्यक्तियों का निर्माण करना आवश्यक है। इस कोटि के व्यक्ति ही नई समाज रचना अथवा अहिंसक समाज रचना की अवधारणा को साकार कर सकते हैं।

नई समाज रचना के लिए अनेक प्रयत्न हुए हैं। उनमें समाज की व्यवस्था को बदलने का प्रयत्न मुख्य है, मनोवृत्ति को बदलने का प्रयत्न गौण है। इस प्रयत्न का निष्कर्ष यह है—मनोवृत्ति को बदले बिना केवल व्यवस्था को नहीं बदला जा सकता। केवल मनोवृत्ति को बदलना भी एकान्तवादी दृष्टिकोण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। केवल व्यवस्था को बदलना भी एकान्तवादी दृष्टिकोण है। अनेकान्तवाद का दृष्टिकोण यह है—मनोवृत्ति और व्यवस्था—दोनों का युगपत् परिवर्तन होना चाहिए। यह युगपत्वाद अनेकान्त का प्राणतत्व है। इसमें दो विकल्पों की एक साथ स्वीकृति है। इस युगपत्वाद के आधार पर नई समाज रचना का प्रयत्न किया जाए तो नई दिशा का उद्घाटन हो सकता है। श्रम, स्वावलम्बन, स्वदेशी-अर्थव्यवस्था, राज्य-व्यवस्था, कृषि, उद्योग आदि भौतिक संसाधनों में परिवर्तन लाने की कल्पना—ये सब नई समाज-व्यवस्था में प्राण संचार नहीं कर सकतीं। श्रम और स्वावलम्बन की चेतना को विकसित करके ही उसमें प्राण संचार किया जा सकता है। चेतना को विकसित करने की दिशा में प्रयत्न बहुत कम हो रहा है, इसलिए प्रयत्न का जो परिणाम आना चाहिए, वह नहीं आ रहा है। चेतनाशून्य प्रवृत्ति महावीर की भाषा में द्रव्यक्रिया होती है।

भाव क्रिया का प्रयोग

महात्मा गांधी का प्रयोग भावक्रिया का प्रयोग था। चेतनाशून्य प्रयोग को उन्होंने कभी महत्त्व नहीं दिया। कोरा चरखा चले और चरखे के साथ जुड़ी हुई चेतना समाप्त हो जाए तो वैज्ञानिक उपकरणों के सामने चरखा अपना मूल्य स्थापित नहीं कर सकता। खादी, ग्रामोद्योग आदि सब प्रवृत्तियों के लिए यही बात चरितार्थ होगी। सत्याग्रह की पृष्ठभूमि में जो सत्यग्राही दृष्टिकोण दिया था, वह विलुप्त हो गया। केवल सत्याग्रह शब्द शेष रह गया इसीलिए वह आज किसी को आकृष्ट नहीं कर रहा है। इस विषय में विनोबाजी की यह टिप्पणी बड़ी महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने लिखा है—

'मैं कबूल करता हूं कि मुझ पर गीता का गहरा प्रभाव है। उस गीता को छोड़कर, महावीर से बढ़कर किसी का असर मेरे चित्त पर नहीं है। उसका कारण यह है कि महावीर ने जो आज्ञा दी है, वह बाबा को पूर्ण मान्य है। आज्ञा यह है कि सत्यग्राही बनो। आज जहां-जहां जो उठा सो सत्याग्रही होता है। बाबा को भी व्यक्तिगत सत्याग्रही के नाते गांधीजी ने पेश किया था, लेकिन बाबा जानता था—वह कौन है, सत्याग्रही नहीं, सत्यग्राही है। हर मानव के पास सत्य का अंश होता है, इसलिए मानव-जन्म सार्थक होता है। तो सब धर्मों में, सब ग्रन्थों में, सब मानवों में सत्य का जो अंश है, उसको ग्रहण करना चाहिए। हमको सत्यग्राही बनना चाहिए, यह जो शिक्षा है महावीर की, बाबा पर गीता के बाद उसी का असर है। गीता के बाद कहा, लेकिन जब देखता हूं तो मुझे दोनों में फरक ही नहीं दिखता।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दक्षेस शिखर सम्मेलन ने संकल्प किया—'सात वर्ष में गरीबी का उन्मूलन कर देंगे।' सत्ता की कुर्सी पर आसीन लोग संकल्प करते हैं, पर कोई भी संकल्प जनता के सहयोग के बिना सफल नहीं हो सकता। सरकारी संकल्प सामने आता है किन्तु जनता की चेतना को जागृत करने का कोई प्रयत्न नहीं होता। संकल्प अधूरा रह जाता है, सपने आकार नहीं ले पाते। इस सचाई की ओर हमारा ध्यान अधिक आकृष्ट होना चाहिए कि प्रवृत्ति के साथ हमारी चेतना जुड़ रही है या नहीं। महात्मा गांधी की सफलता का यही रहस्य है कि उन्होंने झाड़ू और चरखे के साथ अपनी चेतना को जोड़ा था, इसीलिए झाड़ू उनका ब्रह्मास्त्र और चरखा सुदर्शन चक्र बन गया।

झाड़ू और चरखा चेतना से अलग रहकर मूल्यवान नहीं बन सकते। गांधी के सपनों का भारत इसीलिए नहीं बन सका कि उसके साथ जनता की चेतना नहीं जुड़ पाई। गांधी ने कहा—

'मैं ऐसे भारत के लिए कोशिश करूंगा, जिसमें गरीब से गरीब लोग भी यह महसूस करेंगे कि यह उनका देश है और इसके निर्माण में उनकी आवाज का महत्व है। मैं ऐसे भारत के लिए कोशिश करूंगा, जिनमें ऊंचे और नीचे वर्गों का भेद नहीं होगा और जिसमें विविध सम्प्रदायों में पूरा मेलजोल होगा। ऐसे भारत में अस्पृश्यता या शराब और दूसरी नशीली चीजों के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। उसमें स्त्रियों को समान अधिकार होंगे। सारी दुनिया के साथ हमारा सम्बन्ध शान्ति का होगा, यानी न तो हम किसी का शोषण करेंगे और न किसी के द्वारा अपना शोषण होने देंगे। ऐसे सब हितों का, जिनका करोड़ों मूक लोगों के हितों से कोई विरोध नहीं है, पूरा सम्मान किया जाएगा। फिर वे हित देशी हों या विदेशी। यह है 'मेरे सपनों का भारत'। इससे भिन्न किसी चीज से मुझे संतोष नहीं होगा।'

क्या चेतना का नव-निर्माण किए बिना गांधी के सपनों के भारत का निर्माण किया जा सकेगा?

परिवर्तन के कारक तत्त्व

हजारों-हजारों वर्षों से धर्मग्रन्थों का निर्माण हो रहा है। हजारों-हजारों प्रवक्ता उनके सिद्धान्तों की व्याख्या कर रहे हैं, उपदेशों पर प्रवचन कर रहे हैं। नीतिशास्त्रों और सूत्रों का उच्चारण कर रहे हैं, फिर भी मनुष्य नहीं बदला है, समाज नहीं बदला है, विश्व नहीं बदला है। क्या उन सिद्धान्तों, उपदेशों और प्रवचनकारों पर पुनर्विचार करना आवश्यक नहीं है? इस प्रकार के चिंतन का स्वर बार-बार मुखर हो रहा है। इसकी समीक्षा होनी चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिवर्तनकारक तत्व तीन हैं—

1. मूल अथवा उपादान 2. साधन 3. निमित्त।

सब व्यक्ति समान नहीं होते। प्रत्येक व्यक्ति के चिन्तन, बुद्धि, भावना, रुचि और क्रियात्मक क्षमता का स्तर भिन्न होता है। यह उपादान की भिन्नता सबको एक सांचे में नहीं ढाल सकती। धर्मशास्त्र अथवा धर्म का उपदेश परिवर्तन का उपादान नहीं है। उसका उपादान है—व्यक्ति की अपनी क्षमता।

धर्मशास्त्र अथवा धर्मोपदेश परिवर्तन के साधन भी नहीं हैं। शब्दशास्त्र के अनुसार साधन साधकतम होता है। वे परिवर्तन के केवल निमित्त हैं। निमित्त पर उतना ही भार लादना चाहिए, जितना भार उठाने की उसकी क्षमता है। हम परिवर्तन के लिए धर्मशास्त्र अथवा धर्मोपदेश को जिम्मेदार मानते हैं और वह जिम्मेवारी पूरी नहीं होती है, तब उसकी असफलता की घोषणा करते हैं। धर्मशास्त्र का काम है दिशादर्शन। निर्दिष्ट दिशा में जाना अथवा न जाना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है। धर्म ने व्यक्ति की स्वतंत्रता को बहुत महत्व दिया है। यह प्रसिद्ध सूक्त है:

आपदां कथितः पंथाः, इन्द्रियाणामसंयमः।
तज्जयः संपदां मार्गः, यदिष्टं तेन गम्यताम्।।

इन्द्रियों का असंयम आपदा का मार्ग है। इन्द्रिय-विजय संपदा का मार्ग है। मैंने दो मार्ग बतला दिए। तुम्हारी इच्छा हो, उस पर चलो।

यह चलने की स्वतंत्रता देकर धर्म ने व्यक्ति-स्वातंत्र्य का सम्मान किया है। बलपूर्वक बदलने का दायित्व राज्यसभा अथवा दण्डनीति ने ओढ़ा था। उसका संकल्प था—दोषी को दण्ड दिया जाएगा और निर्दोष की पूजा होगी। दण्ड की मृदु, कठोर, क्रूर और क्रूरतर विधियां विकसित हुईं। फिर भी समाज अपराधी प्रवृत्तियों से मुक्त नहीं हो सका, धरती पर स्वर्ग नहीं उतरा। यह प्रश्न पूछा जाता है कि इतने धर्मशास्त्रों और धर्मगुरुओं के होते हुए भी समाज क्यों नहीं बदला? यह प्रश्न नहीं पूछा जाता कि दण्ड की इतनी विधियों के होते हुए भी समाज क्यों नहीं बदला? यदि दण्ड समाज के लिए अंकुश है तो धर्म भी उससे कम अंकुश नहीं है। दण्ड के भय से बहुसंख्यक लोग अपराध से बचे हुए हैं। उसकी समानान्तर उक्ति यह है कि धर्म की धारणा से भी बहुसंख्यक लोग अपराध से बचे हुए हैं। हमें इस बिन्दु पर चिन्तन करना चाहिए कि दण्ड नहीं होता तो समाज केसा होता? धर्म की धारणा नहीं होती तो समाज कैसा होता? धर्म और दण्डनीति—दोनों का अपना-अपना क्षेत्र है और अपना-अपना मूल्य है। इनसे निरपेक्ष होकर हम व्यक्ति और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाज-व्यवस्था के परिवर्तन की बात नहीं सोच सकते। धर्म की चेतना जितनी जागृत होती है, उतना ही अपराध और दण्ड का प्रयोग कम होता है।

समस्या का दूसरा पहलू यह है--धर्म को मानने वाले लोग ज्यादा हैं और न मानने वाले कम, फिर समाज क्यों नहीं बदलता? समस्या उतनी गहरी नहीं है, जितनी लगती है। अंतःसम्पर्क हो तो समस्या कुछ है ही नहीं। प्रश्न धर्म को मानने वालों की संख्या का है, अनुयायियों का है, धार्मिकों का नहीं। जितने अनुयायी हैं उनका पच्चीस प्रतिशत भी यदि धार्मिक हों तो समाज व्यवस्था आमूल-चूल बदल सकती है। धार्मिक की पहली कसौटी है--संवेदनशीलता, करुणा। दूसरी कसौटी है--अपनी सुख-सुविधा के लिए दूसरों की सुख-सुविधा का विलोप न करना। तीसरी कसौटी है--शान्ति और मैत्री के वातावरण का निर्माण।

नए समाज की रचना के लिए जरूरत है संवेदनशीलता की, स्वार्थ विसर्जन की, शान्ति और मैत्रीपूर्ण वातावरण के निर्माण की। इसका तात्पर्य है--नए समाज की रचना के लिए जरूरत है धार्मिक व्यक्तित्व की।

समाज की व्यवस्था को रुग्ण बनाए रखने के लिए धर्म के अनुयायी सर्वाधिक उत्तरदायी हैं। जातिवाद और रंगभेदवाद का ध्वज धर्म के अनुयायियों के हाथ में है। साम्प्रदायिक विद्वेष का शंखनाद उन्हीं के मन-मन्दिर में होता है। एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म के अनुयायियों का धर्मान्तरण करने के लिए प्रयत्नशील हैं। हिंसा, आतंक, संघर्ष और युद्ध--इसी देवालय की परिक्रमा करते हैं। इतिहास साक्षी है और वर्तमान भी इसका साक्ष्य दे रहा है। अहं का शरीर धर्म का परिधान पहनकर यह सब कुछ कर रहा है। वह नए समाज की रचना में सबसे बड़ा विघ्न बन रहा है। जरूरत है किसी नए विनायक की, जो इस विघ्न का विनाश कर डाले। वह विनायक हो सकता है अनेकान्त।

समाधान है तीसरी प्रजाति

अनेकान्त का दर्शन है--हर विचार सापेक्ष है, हर प्रतिपादन सापेक्ष है, हर मान्यता, अवधारणा सापेक्ष है। अस्तित्व निरपेक्ष हो सकता है, पर्याय अथवा परिवर्तनशील वस्तु निरपेक्ष नहीं होती। सापेक्ष की व्याख्या देश, काल, परिस्थिति की अपेक्षा को समझकर करें, आग्रह का बंधन शिथिल होगा, संघर्ष, कलह और झगड़े कम हो जायेंगे। जातिवाद अभिजात वर्ग के अंहकार की उपज है। इसे धर्म का कवच पहनाया गया है। इस अपेक्षादृष्टि से देखने पर जातिवाद का जहर अपने आप मृदुता की सुधा में बदल जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्यांश को पूर्ण सत्य मानने पर साम्प्रदायिक विद्वेष पनपा है। जो स्वीकारा गया है, वह सत्यांश है, पूर्ण सत्य नहीं है। अपने स्वीकृत सत्यांश को पूर्ण सत्य मानना और दूसरे के स्वीकृत सत्यांश को मिथ्या मानना साम्प्रदायिक विद्वेष का मूल कारण है। प्रत्येक सत्यांश पर सापेक्षदृष्टि से विचार करो और उसमें समन्वय के सूत्र की खोज करो, साम्प्रदायिक विद्वोष सत्य की खोज में बदल जाएगा।

मार्क्सवाद को गांधीवाद की चुनौती दी जा सकती है और गांधीवाद को मार्क्सवाद की चुनौती दी जा सकती है किन्तु गांधीवाद और मार्क्सवाद के सत्यांशों को समन्वय की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता, इसीलिए दोनों अच्छाइयां एक दूसरे के प्रतिपक्ष में खड़ी हैं। उनका किसी तीसरी प्रजाति को उत्पन्न करने में उपयोग नहीं हो रहा है। अनेकान्त के अनुसार तीसरी प्रजाति का उद्भव ही समस्या का समाधान है। केवल समानता समस्या का समाधान नहीं है और केवल विषमता भी समस्या का समाधान नहीं है। सामाजिक समस्या का समाधान है—समानता-विषमता नामक तीसरी प्रजाति का उद्भव।

एकान्तदृष्टि से स्वीकृत राजनीति और अर्थ-व्यवस्था भी एक दूसरे पर दोषारोपण कर रही है, एक दूसरे की सच्चाई को स्वीकार कर सामंजस्य स्थापित नहीं कर रही है। पूंजीवाद अपनी कल्पना के प्रासाद पर खड़ा है और समाजवाद अपनी झोंपड़ी में शरण तलाश रहा है। केनिज, मार्शल आदि के अर्थशास्त्र के अपने कुटीर हैं तो गांधी, शूमेकर आदि के अर्थशास्त्र अपनी जगह खड़े हैं। एक दूसरे पर कटाक्ष किया जा रहा है, किन्तु दोनों को मिलाकर नए अर्थशास्त्र का निर्माण नहीं किया जा रहा है। अहिंसा की प्राण-प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक है ऐकान्तिक आग्रह का परित्याग और आवश्यक है सत्यग्राही दृष्टिकोण का विकास और फिर आवश्यक है सत्याग्रह का प्रयोग।

जरूरी है प्रशिक्षण का व्यापक कार्यक्रम

बीसवीं शताब्दी ने हिंसा के बहुत प्रयोग किए हैं—अणुअस्त्रों का निर्माण, शस्त्रीकरण का विकास, शस्त्रों का मुक्त बाजार, उग्रवाद अथवा आतंकवाद का प्रशिक्षण, आर्थिक साम्राज्य का विस्तार, असमर्थ जनता का शोषण और उत्पीड़न। अहिंसा का प्रयोग बहुत कम हुआ है। महात्मा गांधी, मार्टिन लूथर किंग, नेल्सन मंडेला आदि कुछ व्यक्तित्व हुए हैं, जिन्होंने अहिंसा की धरती पर खड़े रहकर हिंसा को अहिंसा में बदलने के लिए चरण आगे बढ़ाए हैं। किन्तु यह कहने में हमें कोई संकोच नहीं है कि उन्होंने अहिंसात्मक प्रशिक्षण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की व्यापक शृंखला तैयार नहीं की। यदि ऐसा होता तो अहिंसा के प्रशिक्षित कार्यकर्ता हिंसा के वातावरण को बदलने में सफल हो जाते। आज भी अवकाश है। अहिंसक व्यक्तित्व के निर्माण के लिए प्रशिक्षण की सैद्धान्तिक और प्रायोगिक परिकल्पना होनी चाहिए। पारिवारिक जीवन से लेकर सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक जीवन में व्याप्त हिंसा को दूर कर समानता, सापेक्षता और शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की जीवनशैली का विकास किया जा सके। इस कार्य के लिए आवश्यक है—अणुव्रत, सर्वोदय, राजनीति, समाज विज्ञान, अर्थशास्त्र आदि क्षेत्रों के धुरीण व्यक्ति गहन चिन्तन और मंथन करें, अहिंसक जीवनशैली समाज के सामने प्रस्तुत करें। अहिंसात्मक स्तुति और महिमागान समाज-व्यवस्था को बदलने के लिए कारगर नहीं होगा। कारगर होगा प्रशिक्षण का व्यापक कार्यक्रम। क्या हम इस पर गंभीरता से चिन्तन कर सकते हैं?

आर्थिक विकास : दो धाराएं

आर्थिक विकास की दो धाराएं विद्यमान हैं। एक धारा के उद्गम स्रोत अर्थशास्त्री हैं। दूसरी धारा के उद्गम स्रोत नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा में विश्वास करने वाले हैं। अर्थशास्त्री की दृष्टि से आर्थिक विकास ही समाज की प्रगति और विकास का मूल आधार है। अध्यात्मवेत्ता की दृष्टि से स्वस्थ समाज की रचना के लिए आर्थिक विकास पर अंकुश लगाना आवश्यक है। सत्याग्रह मीमांसा (सितम्बर 1990) में दो लाख प्रकाशित हैं। एक जयप्रकाश नारायण का और दूसरा मेरा। उनका अध्ययन आर्थिक विकास के चक्रव्यूह को तोड़ने के लिए उपयोगी होगा। जयप्रकाश नारायण की बात 'आवश्यकताओं पर नियंत्रण ही समाजवाद की नींव है'—इस शीर्षक से शुरू होती है। उनका समग्र चिन्तन इस प्रकार है :

'...एशिया का प्रत्येक देश आज औद्योगीकरण की ओर कदम बढ़ाने के लिए उत्सुक है। जोर-जबरदस्ती से जब कदम आगे बढ़ाया जाता है तो उसका क्या परिणाम होता है, यह रूस और दूसरे कम्युनिस्ट देश हमें चेतावनी दे रहे हैं। इसलिए एशिया वालों को समाजवाद तक पहुंचने का अपना ही कोई रास्ता और औद्योगीकरण का अपना ही कोई नमूना खोज लेना चाहिए। यह सोचना ही भ्रामक होगा कि यदि लोकतान्त्रिक व्यवस्था के संरक्षण में औद्योगीकरण की प्रक्रिया चलती है, तो फिर औद्योगीकरण की गति से कोई डर नहीं है। एक निश्चित हद से बाहर जाते ही औद्योगीकरण की गति स्वतः अनिवार्य रूप से तानाशाही की परिस्थिति पैदा कर लेगी।

(पूंजीवाद का तो है ही पर) समाजवादी और साम्यवादी इन दोनों का भी जोर भौतिक समृद्धि, उत्पादन की उत्तरोत्तर वृद्धि और जीवन स्तर को अधिकाधिक ऊंचा उठाने पर रहता है। इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यथोचित पूर्ति होनी चाहिए। यह सत्य है कि भारत जैसे पिछड़े और गरीब देश में सामाजिक पुनर्निर्माण का मुख्य काम ही जन-साधारण के जीवन-स्तर को ऊंचा उठाना है। किन्तु भौतिक समृद्धि को देवता-तुल्य बना देने और भौतिक पदार्थों की न बुझने वाली भूख को शान्त करने की इच्छा रखने वाली जीवन दृष्टि को प्रोत्साहित करने से न तो यहां काम चलेगा और न कहीं अन्यत्र ही।

यदि लगातार वह भूख उनको सताती रही, तो न लोगों के दिल और दिमाग में शान्ति होगी और न एक-दूसरे के बीच आपस में शान्ति रहेगी। उससे व्यक्तियों, दलों और राष्ट्रों के बीच अवश्य ही एक अनियन्त्रित स्पर्धा खड़ी हो जाएगी। प्रत्येक व्यक्ति अपने पड़ोसी से आगे बढ़ने की कोशिश करेगा और प्रत्येक राष्ट्र केवल दूसरे राष्ट्रों को पकड़ने की ही नहीं, बल्कि उन सबको पीछे छोड़ जाने की कोशिश करेगा। इस प्रकार के असंतोषी समाज में हिंसा और युद्ध उसकी एक खासियत हो जाते हैं। तब जीवन के समस्त मूल्य 'और चाहिए', 'और चाहिए' की सर्वोपरि इच्छा के अधीन हो जायेंगे। धर्म, कला, दर्शन, विज्ञान, सबको अधिक चाहिए, और भी अधिक चाहिए इस एक ही लक्ष्य की पूर्ति में लग जाना पड़ेगा। समता, स्वतंत्रता, बंधुत्व सब-के-सबको भौतिकवाद की बाढ़ में डूब जाने का खतरा पैदा हो जायेगा। मानव-जीवन में कोई अन्य सहारा, कोई सच्चा संतोष नहीं रहेगा; क्योंकि जितना ही अधिक किसी के पास होता है, उतनी ही अधिक उसकी भूख बढ़ती है।

नैतिक जीवन और मानवीय व्यक्तित्व के विकास तथा समस्त मानवीय गुणों और मूल्यों के फूलने-फलने के लिए शारीरिक भूख (आवश्यकताओं) पर नियंत्रण रखना अनिवार्य है। समाजवादी मूल्यों के सम्बन्ध में तो यह बात खास तौर से सही है। सबके साझे प्रयत्न से जो उपयोगी चीजें हों, उन्हें एक दूसरे के साथ बांटकर खाने का तरीका ही समाजवादी जीवन का मार्ग है। बांट लेने का यह काम जितनी स्वेच्छा और सहमति से होता है, उतना ही समाज में तनाव और दबाव कम होगा और उतना ही अधिक समाजवाद उसमें होगा। मैं समझता हूं कि जब तक समाज के सदस्य अपनी आवश्यकताओं पर नियंत्रण रखना नहीं सीखते तब तक स्वेच्छा से चीजों को बांट लेना यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य होगा। तब समाज निश्चय ही दो टुकड़ों में बंट जायेगा। एक उन लोगों को जो दूसरों को अनुशासित करने का प्रयत्न करते होंगे और दूसरा बाकी बचे हुए सब लोगों का।

समाज की इस प्रकार की व्यवस्था में एक प्रश्न हमेशा सामने रहता है—अनुशासित करने वालों पर अनुशासन कौन रखेगा, राज्य करने वालों पर राज्य कौन करेगा?

साम्यवादी देशों के उदाहरण और समाजवादी सरकारों के अनुभव से यह प्रगट है कि इस शाश्वत प्रश्न का उत्तर देना बहुत ही कठिन है। इसका एक ही हल मालूम होता है और वह यह कि ऊपर से अनुशासन करने की आवश्यकता और उसके क्षेत्र को जितना अधिक से अधिक संभव हो, संकुचित और सीमाबद्ध किया जाय तथा आत्मानुशासन के क्षेत्र का उत्तरोत्तर विस्तार किया जाए। यह हो सकेगा इस बात का इत्मिनान दिलाने पर कि समाज का प्रत्येक सदस्य आत्मानुशासन से काम करता है और समाजवादी मूल्यों के अनुरूप आचरण करता है और दूसरी चीजों के साथ-साथ अपने साथियों के बीच स्वेच्छापूर्वक बांटता और सहयोग करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवश्य ही जनतान्त्रिक समाजवादियों में सत्ता के विकेन्द्रीकरण, चौखम्भा राज्य तथा इसी प्रकार की अन्य धारणाओं के संबंध में अस्पष्ट चर्चाएं होती थीं। किन्तु देखा गया कि असल में उनका एकमात्र ध्येय सत्ता पर कब्जा करने का था। लगता है उनका विश्वास था कि सत्ता का विकेन्द्रीकरण भी पहले सत्ता के वर्तमान केन्द्रों को जीत कर अपने कब्जे में कर लेने के उपरान्त ही संभव होगा, क्योंकि उस समय विकेन्द्रीकरण और संस्था-विघटन कानून बनाकर किया जा सकता है। लेकिन वे इस प्रक्रिया की निरर्थकता को समझ नहीं पाये। ऊपर से लोगों के हाथ में सत्ता बांटकर विकेन्द्रीकरण नहीं किया जा सकता, खासतौर से जब लोग राजनीतिक दृष्टि से बिल्कुल कुचल दिये गये हों और दल प्रथा तथा सत्ता के केन्द्रीकरण के कारण स्व-शासन की जिनकी शक्ति, यदि नष्ट नहीं, तो सर्वथा छिन्न-भिन्न कर दी गयी हो। आज विधानसभा में बने हुए कानूनों के अनुसार ग्राम पंचायतों का संगठन हो रहा है। ये सच्ची पंचायतें नहीं हैं। गांधीजी जिसे ग्रामराज्य कहते थे, वह यह नहीं हैं।

गांधीजी के सारगर्भित शब्दों में "पंचायत अपने ही बनाये हुए कानूनों के अनुसार काम कर सकती है।" समाज के जीवन को आत्मनियन्त्रित करने की यह शक्ति पैदा हो जानी चाहिए, विकेन्द्रीकरण के नाम पर ऊपर से बख्शी नहीं जानी चाहिए। इसकी प्रक्रिया नीचे से शुरू होनी चाहिए। स्व-राज्य और आत्म-व्यवस्था के कार्यक्रम जनता के सामने रखे जायें और विधायक तथा निर्दलीय दृष्टि से उनको सहायता दी जाए, ताकि वे उन्हें व्यवहार में ला सकें। अब यह स्पष्ट हो गया है कि गांधीजी राष्ट्रीय पैमाने पर इस कार्यक्रम को चलाने की दृष्टि से ही कांग्रेस को एक निर्दलीय लोक सेवक संघ में परिवर्तित करने की बात सोच रहे थे।

मैं राज्य की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई प्रतिष्ठा को गहरी आशंका और भय की दृष्टि से देखता रहा हूं। साम्यवादी, गणतान्त्रिक समाजवादी तथा कल्याणवादी—फासिस्टों की तो कहें ही क्या—सब-के-सब राज्यवादी हैं। वे सब पहले हाथ में सत्ता लेकर उसके बाद राज्य के अधिकारों और कार्यक्षेत्रों में वृद्धि करके अपने ढंग से सतयुग का निर्माण करना चाहते हैं।

बुर्जुआ (भद्र लोगों के) राज्य का राजनीतिक सत्ता पर एकाधिकार था। समाजवादी राज्य में उसके साथ आर्थिक एकाधिकार के जुड़ने का भय रहता है। सत्ता के इतने बड़े केन्द्रीयकरण को नियन्त्रित और संयमित रखने के लिए उससे अधिक नहीं, तो उतनी शक्ति तो चाहिए ही। समाजवादी समाज में इस प्रकार की कोई शक्ति और प्रभुता के आश्वासन की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। आर्थिक और राजनीतिक अफसरशाही इतनी शक्तिशाली हो जाएगी और इतने महत्त्वपूर्ण सत्ता स्थान उसके हाथ में होंगे कि जनता की स्वतंत्रता और स्वाधिकार के साथ ही जनता की रोजी-रोटी भी सर्वथा उस अफसरशाही की दया पर निर्भर करेगी।

इस खतरे से बचने का मुझे केवल एक ही उपाय मिला कि जहां तक व्यावहारिक हो सके, जनता के लिए राज्य के बिना काम चलाना और अपनी व्यवस्था प्रत्यक्ष रूप में अपने आप कर लेना संभव बनाया जाय। समाजवाद की भाषा में बोलना हो तो मैं इस प्रकार कहूंगा कि राज्य सत्ता का इस्तेमाल करके समाजवाद कायम करने के बजाय जनता के स्वैच्छिक प्रयत्नों द्वारा समाजवादी जीवन के स्वरूपों की सृष्टि और विकास किया जाए। दूसरे शब्दों में उपाय यह है कि राज्यवादी समाजवाद के स्थान पर जनता का समाजवाद कायम किया जाए। सर्वोदय जनता का समाजवाद है। प्रत्येक समाजवादी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वोदय से सहमत हो या नहीं, इतना तो उसे मानना चाहिए कि जितना ही जनता का अथवा स्वैच्छिक समाजवाद अधिक होगा और राज्य की ओर से लादा हुआ समाजवाद कम होगा, समाजवाद उतना ही अधिक पूर्ण और यथार्थ बनेगा।

प्रश्न यह है कि उस समय समाज का रूप क्या होगा जिसमें जनता के लिए अपने सामाजिक जीवन का स्वयं संचालन करना और जीवन के उन समस्त मूल्यों का विकास करना संभव होगा, जो सहकार, आत्मानुशासन, उत्तरदायित्व की भावना आदि के रूप में समाजवादी समाज की विशेषताएं हैं। यह ऐसा प्रश्न है, जिसकी ओर समाजवादियों ने अब तक कम-से-कम ध्यान दिया है। मानव समाज कुछ इस तरह विकसित हुआ है कि उससे आज की पेचीदा औद्योगिक सभ्यताएं ही निकलतीं, इन सभ्यताओं में शहर कहलाने वाले मनुष्यों के बड़े-बड़े जंगल हैं, आर्थिक और सामाजिक सम्बन्ध सर्वथा अवैयक्तिक और निष्प्राण हैं, कार्य-प्रणाली कष्टसाध्य है और मनुष्य आनन्द एवं सृजनशक्ति की अभिव्यक्ति के अवसरों से वंचित है। उसे केवल उत्पादन-शक्ति और कार्यक्षमता के आधार पर ही मान्यता मिलती है। विज्ञान ने अखिल विश्व को सिकोड़कर एक पड़ोस बना दिया है, किन्तु मनुष्य ने एक ऐसी सभ्यता का निर्माण कर लिया है जिसमें कि पड़ोसी भी अपरिचित बन गये हैं। इस प्रकार का केन्द्रित, पेचीदा और ऊपर से बोझिल समाज अफसरशाहों, व्यवस्थापकों, यंत्रज्ञों और अंकशास्त्रियों के लिए स्वर्ग बन जाता है। इस प्रकार का समाज एकरस नहीं बन सकता, जहां भाई भी भाई-भाई की तरह एक साथ न रह सकें।

समाजवादियों ने विज्ञान, उत्पादन, कार्यक्षमता, जीवन स्तर तथा ऊंचे-ऊंचे आदर्श वाले नारों के नाम पर समाज के इस भस्मासुर को बिल्कुल ज्यों का त्यों ले लिया है और अब वे आशा करते हैं कि इसमें सार्वजनिक स्वामित्व या जनता की मालिकी जोड़कर वे उसे समाजवादी बनायेंगे। मैं नम्रतापूर्वक कहना चाहता हूं कि इस प्रकार के समाज में समाजवाद सांस भी नहीं ले सकता। यदि मनुष्य छोटे-छोटे समुदायों में रहे, तो स्व-शासन, स्व-व्यवस्था, पारस्परिक सहकार और समानता, स्वतंत्रता, बंधुत्व, इन सबका प्रयोग और विकास बेहतरी के लिए हो सकता है। पश्चिम में भी दूर-दृष्टि वाले विचारकों को अब ऐसा लगने लगा है।

इसके अतिरिक्त मनुष्य प्रकृति और संस्कृति दोनों की उपज है। इसलिए उसके संतुलित विकास के लिए यह आवश्यक है कि दोनों के बीच मधुर समरसता पैदा की जाए। लेकिन पार्कों और हरे-भरे मार्गों के होते हुए भी लन्दन, पेरिस, न्यूयार्क, मास्को जैसे आधुनिक सभ्यता के केन्द्रों में इस प्रकार की समरसता कायम करना संभव नहीं है। इसी का परिणाम है कि आधुनिक मनुष्य का विकास विकृत और एकांगी हो गया है। प्रकृति और संस्कृति का सरस सम्मिश्रण अपेक्षाकृत छोटे-छोटे समुदायों में ही संभव हो सकता है। आल्डस हक्सले की "साइंस लिबर्टी एण्ड पीस" में आता है: "अब यह काफी स्पष्ट हो गया है कि मनुष्य की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएं, उसकी आध्यात्मिक आवश्यकताओं की कौन कहे, तब तक पूरी नहीं हो सकती, जब तक (1) उसको काफी व्यक्तिगत स्वतंत्रता और एक स्वशासित दल के रूप में एक-दूसरे के प्रति और पूरे दल के प्रति, व्यक्तिगत उत्तरदायित्व न हो; (2) उसके कार्य में एक खास सौन्दर्य की भावना और मानवीय गौरव न हो और जब तक (3) अपने प्राकृतिक वातावरण के साथ उसका सजीव और गहरा अन्योन्याश्र संबंध न हो।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन्हीं कारणों से गांधीजी इतना जोर देकर कहते थे कि भारतीय ग्राम और ग्राम-स्वराज्य (ग्रामराज) ही उनके भावी समाज की बुनियाद है। गांधीजी का अभिप्राय भाई-भाई की तरह शान्तिपूर्वक रहने वाले स्वतंत्र और समान व्यक्तियों के समाज से था।

छोटी-छोटी बस्तियों में रहने और अधिकांश अपने लिए या स्थानिक उपयोग के लिए छोटे-छोटे यंत्रों पर उत्पादन करने को विज्ञान की सूई को पीछे घसीटना कह सकते हैं। लोग समझते हैं कि विज्ञान, बड़े पैमाने पर केन्द्रित उत्पादन और मनुष्यों की घनी-घनी बस्तियां अनिवार्य रूप से सहचारी हैं। इससे अधिक बेमानी बात और क्या हो सकती है? विज्ञान दो तरह का है, शुद्ध विज्ञान और व्यवहार्य विज्ञान। मैं केवल शुद्ध विज्ञान को ही विज्ञान कहूंगा, दूसरा तो यंत्र-कला है। विज्ञान का उपयोग स्वतः विज्ञान पर निर्भर नहीं करता, बल्कि समाज के चरित्र पर निर्भर करता है। बड़ी मशीनों के द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन करना रुपया कमाने वालों के लिए लाभदायक था, इसलिए यंत्र-कला ने उस विशिष्ट प्रकार के उत्पादन का मार्ग अपनाया। समाज में पैसा कमाने वाले पूंजीपतियों का प्रभाव था, इसलिए उनके मन की बात होने ही वाली थी। सरकारें भी, उनका ध्येय कुछ भी हो, केन्द्रित और बड़े पैमाने पर उत्पादन को ही पसन्द करती हैं। क्योंकि युद्ध करने के लिए (आप चाहें तो "संरक्षण के लिए" कह सकते हैं) उसकी आवश्यकता थी। इसलिए भी उसका महत्व था कि उसके द्वारा सारी आर्थिक और इसलिए राजनीतिक भी, सत्ता उनके हाथों में केन्द्रित होती थी। इस प्रकार सरकारों और मुनाफाखोरों ने मिलकर आधुनिक समाज के भस्मासुर को पैदा किया है। बेचारे विज्ञान का इस मामले में कोई हाथ नहीं था। इतना ही नहीं, वैज्ञानिकों का बस चलता तो वे उत्पादन और विनाश के इन बहुत से साधनों को, जिनके निर्माण में उनके आविष्कारों से सहायता मिली है चकनाचूर करके प्रसन्न होते। समाज ने यदि सत्ता, मुनाफा और युद्ध के लक्ष्यों को न अपना कर शान्ति, सद्भावना, सहकार, स्वतंत्रता और बन्धुत्व के लक्ष्यों को अपनाया होता तो यन्त्र-कला का निश्चित ही तदनुरूप विकास करने में विज्ञान का उतना ही उपयोग हुआ होता। वह विज्ञान की अवनति नहीं कही जाती बल्कि विनाश के बदले निर्माण की दिशा में उसकी प्रगति ही कही जाती। इस प्रसंग में मैं फिर हक्सले के विचार पेश करता हूं:

"मेरा व्यक्तिगत विचार है, जो दरअसल विकेन्द्रीकरण के समस्त समर्थकों का विचार है कि जब तक शुद्ध विज्ञान के निष्कर्षों का उपयोग बड़े पैमाने पर उत्पादन और वितरण करने वाली उद्योग-व्यवस्था को महंगी, अधिक विस्तृत और अधिकाधिक विशिष्ट बनाने में होता रहेगा, सत्ता का निरन्तर थोड़े-से-थोड़े हाथों में अधिकाधिक केन्द्रीयकरण होने के सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता। आर्थिक तथा राजनीतिक सत्ता के इस केन्द्रीयकरण के परिणामस्वरूप जनता निरंतर अपनी नागरिक स्वतंत्रता, अपनी व्यक्तिगत स्वाश्रयता और स्वशासन के अपने अवसर खोती रहेगी। किन्तु हमें यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि निर्लिप्त वैज्ञानिक अनुसंधानों की उपलब्धियां अपने आप में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो केन्द्रित आर्थिक व्यवस्था, उद्योग और सत्ता के लाभ के लिए अपने उपयोग को अनिवार्य बताती हो। यदि आविष्कारक और यंत्रज्ञ लोग चाहें तो शुद्ध विज्ञान के निष्कर्षों को स्वतंत्र रूप से या सहकारी मंडलों के काम करने वाले छोटे-छोटे कारोबार के मालिकों के आर्थिक स्वावलंबन में और इसलिए राजनीतिक स्वातंत्र्य को बढ़ाने के कामों में उतनी ही उपयोगिता के साथ इस्तेमाल कर सकते हैं।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टिकोण है आर्थिक

जयप्रकाश नारायण के ये विचार दलगत राजनीति में लिप्त व्यक्ति के विचार नहीं हैं। उन्होंने मानवता के दृष्टिकोण से सत्य को देखा और अभिव्यक्त किया। जहां मानवता का प्रश्न है वहां समाज-व्यवस्था, राज्य-व्यवस्था और अर्थ-व्यवस्था को अविभक्त रूप में देखना होता है। पहले समाज-व्यवस्था अच्छी हो अथवा राज्य-व्यवस्था? इस प्रश्न का उत्तर पौर्वापर्य में नहीं खोजा जा सकता। इन तीनों व्यवस्थाओं को एक साथ सम्यक् बनाया जाए, तभी शोषणमुक्त समाज की चिन्तनधारा को आगे बढ़ाया जा सकता है।

आज के मनुष्य का दृष्टिकोण मात्र आर्थिक बन गया है। वह प्रत्येक बात आर्थिक लाभ-अलाभ की दृष्टि से सोचता है। इसके सिवाय चिन्तन का कोई कोण ही नहीं रहा, ऐसा लगता है।

एक व्यापारी मर गया। उसे धर्मराज के सामने उपस्थित किया गया। धर्मराज ने पूछा—'कहां जाना चाहते हो, नरक में या स्वर्ग में?' वह बोला—'भगवन्! जहां दो पैसे की कमाई हो, वहीं भेज दो। मेरे लिए स्वर्ग-नरक का कोई फर्क नहीं है।'

आज प्रत्येक व्यक्ति व्यापारी है। उसका दिमाग व्यावसायिक है, फिर चाहे वह राजनीतिक क्षेत्र में हो या धार्मिक क्षेत्र में। किसको व्यापारी कहें और किसको न कहे? लगता है संसार का प्रत्येक वर्ग व्यापारी है, आर्थिक दृष्टिकोण से सोचने वाला है।

शक्य है लेकिन करणीय है क्या?

आज की अर्थ-व्यवस्था के दो महत्त्वपूर्ण सूत्र हैं। एक सूत्र है—जो शक्य है वह काम कर लेना चाहिए। अणुबम बनाना शक्य है तो वह भी बना लेना चाहिए। इस प्रकार शक्यता के साथ करणीयता को जोड़कर आदमी ने इतनी लम्बी छलांग भर ली है कि वह अणु-शस्त्रों तक पहुंच गया। यदि यह मर्यादा होती कि शक्य तो है, पर वह करणीय भी है क्या? शक्यता का परिणाम क्या होगा? तो एक नियंत्रण आता। पर वर्तमान अर्थशास्त्र का सिद्धान्त यह बन गया है कि जो शक्य है वह करणीय भी है। इससे सीमा का अतिक्रमण हो गया। शक्यता के साथ संयम की सीमा होनी चाहिए। शक्य कार्य करणीय होता है, पर उसके साथ यह अंकुश हो कि वह शक्य कार्य किया जाए, जिससे दूसरे का कोई अनिष्ट न हो। यह बड़ा अंकुश है। शक्य तो बहुत कुछ हो सकता है। पास में कंकड़ पड़े हैं। घड़े भी पड़े हैं। कंकड़ फेंका और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घड़े को फोड़ डाला। यह शक्य है, पर करणीय नहीं है। सारे शक्य कार्य करणीय नहीं होते। शक्य होना एक बात है और करणीय होना दूसरी बात है। शक्य होने पर भी वही काम करणीय है जिसका परिणाम अच्छा होता है, जिससे दूसरे का अनिष्ट न हो। जहां शक्य और करणीय का विवेक नहीं होता, वहां अनर्थ घटित होता है।

इसी विवेक के अभाव में मनुष्य ने एक ऐसी संस्कृति को जन्म दे दिया है जो उसे ही निगलने को तैयार हो रही है। ऐसी संस्कृति को जन्म देना तो शक्य था पर करणीय नहीं था, क्योंकि निगले जाने का परिणाम अब हमें ही भुगतना पड़ रहा है।

चार मित्र थे। तीन बुद्धिहीन वैज्ञानिक और एक बुद्धिमान अवैज्ञानिक। चारों घूमने निकले। एक घने जंगल में गए और सघन वृक्ष के नीचे बैठ गए। एक की दृष्टि वहां पड़ी, जहां शेर की अस्थियों का पूरा ढांचा पड़ा था। शेर को मरे कुछ समय बीत गया था, केवल उसका कंकाल रह गया था; उसने अपने मित्रों से कहा—'देखो, आज हमारी विद्या की परीक्षा का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ है। हम शेर को जीवित कर सकते हैं।' एक वैज्ञानिक मित्र बोला, 'मैं इसमें मांस का संचार कर सकता हूं।' दूसरा बोला, 'मैं इसमें रक्त को प्रवाहित कर सकता हूं।' तीसरा बोला, 'मैं इसमें प्राण भर सकता हूं।' तीनों ने सोचा, परीक्षण होगा, कुतूहल होगा, चमत्कार होगा। चौथा बोला—'यह मत करो। ऐसा करना खतरे से खाली नहीं है। ऐसा करना शक्य है, पर करणीय नहीं है। शेर जीवित होगा और हमें ही अपना शिकार बनाएगा। यह आत्मघाती प्रयत्न है, ऐसा मत करो।' तीनों एक साथ बोले—'तुम मूर्ख हो, अवैज्ञानिक हो। तुम नहीं जानते की सृजन करना कितना महत्त्वपूर्ण कार्य है। सदा निषेध ही निषेध करते रहते हो। हम मरे हुए शेर को जिन्दा कर रहे हैं, यह कम काम नहीं है।' वह बोला—'मैं जानता हूं कि निर्माण करना बहुत बड़ा काम है। पर मैं यह भी जानता हूं कि वह निर्माण खतरनाक होता है जो विध्वंस को जन्म देता है। इस निर्माण की परिणति होगी विध्वंस। निर्माण सदा अच्छा ही नहीं होता और विध्वंस सदा बुरा ही नहीं होता। विध्वंस भी अच्छा हो सकता है और निर्माण भी बुरा हो सकता है।' उसने बहुत समझाया, पर तीनों मित्र उसकी बेसमझी की मजाक करते रहे। तीनों उस शेर के कलेवर के पास पहुंचे। चौथा अवैज्ञानिक मित्र ऊंचे पेड़ पर चढ़ गया। एक ने उसमें मांस का और दूसरे ने उसमें रक्त का संचार किया। तीसरे ने ज्यों ही उसमें प्राण का संचार किया कि शेर जीवित हो उठा और दहाड़ने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लगा। तीनों अपनी सफलता पर प्रसन्नता व्यक्त कर ही रहे थे कि शेर ने तीनों का काम समाप्त कर अपनी भूख शांत की। पेड़ पर बैठा अवैज्ञानिक, किन्तु बुद्धिमान मित्र, अपने तीनों साथियों की मूर्खता से निष्पन्न स्थिति पर रो पड़ा और अकेला घर आ गया।

आदमी जाने-अनजाने में ऐसा निर्णय कर देता है, ऐसी संस्कृति को जन्म दे देता है जो सर्वभक्षी बन जाती है। आज उसने ऐसी ही अर्थ-व्यवस्था को जन्म दिया है जो स्वयं उसको ही ग्रसने को तैयार है। यदि हम विचार करेंगे तो पाएंगे कि अणु-अस्त्रों का निर्माण आर्थिक साम्राज्य के विस्तार के लिए ही तो हुआ। प्राचीन काल में भूमि के विस्तार की बात सोची जाती थी। आज आर्थिक साम्राज्य की बात प्रमुख बन गई है। मान लें एक छोटा राष्ट्र है, लेकिन थोड़ी भूमि और सीमित जनसंख्या पर भी यदि उसका आर्थिक साम्राज्य बढ़ जाता है तो वह सारी दुनिया पर अपना सिक्का जमा सकता है। कई छोटे-छोटे राष्ट्र आज आर्थिक साम्राज्य के कारण बहुत शक्तिशाली बन गए हैं। आर्थिक व्यवस्था के साथ सारा दृष्टिकोण ही बदल गया है। पहले लड़ाइयां होती थीं भूमि के लिए और आज संघर्ष चल रहा है आर्थिक प्रभुत्व के लिए, आर्थिक साम्राज्य को बढ़ाने के लिए।

आर्थिक व्यवस्था का दूसरा सूत्र

आर्थिक व्यवस्था का दूसरा सूत्र है—आवश्यकता बढ़ाएं, कार्यक्षमता को बढ़ाएं और उत्पादन को बढ़ाएं। इस सूत्र ने आर्थिक साम्राज्य का विस्तार किया लेकिन साथ ही साथ मनुष्य के लिए संकट और खतरे भी पैदा कर दिए। आवश्यकता बढ़ाने का पहला अर्थ है—संघर्ष। क्योंकि पदार्थ सीमित हैं, आवश्यकताएं अमीम। खाने वाले अधिक हैं, खाद्य वस्तुएं कम। एक ओर कहा जा रहा है—आवश्यकताएं बढ़ाओ, दूसरी ओर कहा जा रहा है परिवार नियोजन करो। कैसा विरोधाभास है। इसका सीधा-सा अर्थ है—चेतना को घटाओ और पदार्थ को बढ़ाओ। चेतन घटे, पदार्थ बढ़े। सारा दृष्टिकोण ही पदार्थवादी हो गया है। मनुष्य, जो चेतनाशील और विवेकशील प्राणी है उसको तो कम करना और पदार्थ या जड़ को बढ़ाना। यदि आवश्यकता को बढ़ाने की बात नहीं होती तो शायद दृष्टिकोण ऐसा नहीं बनता।

दूसरी बात है कार्य-क्षमता बढ़ाने की। इसमें भी मनुष्य की कार्य-क्षमता बढ़ाने की बात कम है, यंत्रों की कार्य-क्षमता बढ़ाने की बात अधिक है। यंत्रों की कार्य-क्षमता बढ़े कि कौन-सी मिल में कितना उत्पादन हो रहा है, कौन-सी मशीनें ज्यादा उत्पादन कर रही हैं। सारा ध्यान यंत्रों की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कार्य-क्षमता बढ़ाने पर है। आदमी भला कितना उत्पादन कर सकता है? इसका परिणाम है कि मजदूर कम होते जा रहे हैं और यंत्र उनका स्थान ग्रहण कर रहे हैं, बेकारी बढ़ रही है।

इस प्रकार यह फिर दूसरा प्रहार है मनुष्य पर, चैतन्य पर, कि जड़ की क्षमता बढ़ाओ और मनुष्य की क्षमता को कम करो, मनुष्य को कम करो। अर्थ-व्यवस्था की इस अवधारणा ने मनुष्य पर और चेतना पर सबसे अधिक प्रहार किया है। जिस देश के कारखाने अधिक उत्पादन करते हैं उस देश का आर्थिक साम्राज्य विस्तृत हो जाता है। जापान ने कारों का इतना उत्पादन किया कि संसार पर प्रभुत्व जमा लिया। और भी अनेक छोटे-छोटे राष्ट्रों ने पदार्थों का उत्पादन कर ऐसा जाल फैलाया कि सारे संसार पर छा गए, उनका आर्थिक प्रभुत्व जम गया। कितना ही बड़ा राष्ट्र क्यों न हो, यदि उसमें पदार्थ-उत्पादन की क्षमता नहीं है तो उसका साम्राज्य फैल नहीं सकता और आज की दौड़ में वह पिछड़ जाता है, अविकसित रह जाता है। वह विकासशील देशों की सूची में नहीं आता।

क्रूरता और शोषण

आर्थिक-व्यवस्था के इन दोनों सूत्रों के आधार पर हम समस्या पर विचार करें और यह देखें कि इन दोनों ने किस स्थिति का निर्माण किया है? जब यंत्रों की, जड़ की क्षमता बढ़ती है—मूल्य बढ़ता है, चेतना की क्षमता कम होती है—मूल्य कम होता है, तब शोषण को बल मिलता है। शोषण आज की आर्थिक व्यवस्था और राजनैतिक प्रणाली का शब्द है। अध्यात्म की भाषा में उसका अर्थ है क्रूरता। दोनों शब्द एक ही हैं। शोषण नया शब्द है और आज की अर्थव्यवस्था के साथ जुड़ा हुआ है, आज की राजनैतिक क्रान्ति के साथ जुड़ा हुआ है। क्रूरता पुराना शब्द है। जैसे-जैसे क्रूरता बढ़ती है, शोषण को बल मिलता है। जैसे-जैसे औद्योगिक विकास हुआ है, शोषण भी बढ़ा है। आठ घंटा काम करने वाला मजदूर बेचारा आजीविका निर्वाह करने मात्र का पैसा पाता है, जबकि ऑफिस में बैठा हुआ अफसर या मालिक लाखों-करोड़ों में खेलने लग जाता है। इतना अन्तर क्यों? इसीलिए कि मनुष्य में क्रूरता की वृत्ति है। यह वृत्ति क्यों पनपती है? यह पनपती है इन्हीं आर्थिक अवधारणाओं के कारण। इन अवधारणाओं के सन्दर्भ में क्रूरता का पनपना सहज है।

क्या शोषण को मिटाया जा सकता है? क्या क्रूरता की वृत्ति बदली जा सकती है? जिसमें क्रूरता नहीं होती, वह शोषण नहीं कर सकता। कोई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी करुणाशील व्यक्ति शोषण नहीं कर सकता। शोषण वही कर सकता है जिसमें क्रूरता है, दूसरे के प्रति सहानुभूति नहीं है। वह यही सोचता है कि दूसरा मरे तो भले ही मरे, मुझे क्या? इस क्रूरता को जन्म देने में अर्थ-व्यवस्था का बहुत बड़ा हाथ है।

ज्ञान और संवेदन

चेतना के दो आयाम हैं—ज्ञान और संवेदन। संवेदन का आयाम समाज-व्यवस्था के लिए आधारभूत सूत्र बनता है। जिस समाज में संवेदनशीलता का धागा नहीं होता, वह नृशंस लोगों का समाज बन जाता है। जिस समाज में यह सूत्र नहीं होता, वह हिंस्र पशुओं का समाज बन जाता है। मनुष्य का इसीलिए विकसित, सहयोगशील समाज बना कि इसमें संवेदना है। इसी के आधार पर आज हजारों-हजारों आदमी साथ में रहते हैं। यदि मनुष्य में कोरी बुद्धि होती, कोरा ज्ञान होता और संवेदना नहीं होती तो वह ज्ञान विध्वंसकारी ही होता। जिस वैज्ञानिक ने अणु-अस्त्रों का निर्माण किया उसने सबसे पहले मानवीय संवेदना को काट कर अलग रख दिया और फिर अस्त्रों का निर्माण किया। यदि उस वैज्ञानिक में मानव जाति के प्रति संवेदना होती तो ऐसा जघन्य कार्य कभी नहीं करता। मनुष्य की सबसे बड़ी विशेषता है—संवेदनशीलता।

जिन-जिन में अध्यात्म जागा है, उनमें संवेदनशीलता अवश्य जागी है। उनमें करुणा का प्रवाह फूटा है और वे समता से ओतःप्रोत हुए हैं। वह व्यक्ति फिर किसी का अनिष्ट नहीं कर सकता, धोखा नहीं दे सकता, किसी की भूमि या सम्पत्ति नहीं हड़प सकता, अनैतिकता नहीं कर सकता आदि-आदि।

संवेदनशीलता को जगाएं

हम संवेदनशीलता को जगाएं। वह इतनी व्यापक बन जाए कि पूरा मानव समाज ही नहीं, पूरा प्राणी जगत् उसमें समा जाए। इतना होने पर ही क्रूरता धुल सकती है। अन्यथा बाप बेटे को और बेटा बाप को, सास बहू को और बहू सास को मार सकती है। कोई रोकने वाला नहीं है। जब संवेदना रुक जाती है तब कौन किसको नहीं मार सकता? सब सबको मार सकते हैं। संवेदना के अभाव में संबंध टिकता ही नहीं।

आदमी बदले, यह मूल बात है। इसका तात्पर्य है कि उसमें रही हुई क्रूरता बदले, शोषण की वृत्ति बदले, नयी चेतना का निर्माण हो। सबसे अधिक अनर्थ करने वाली दो वृत्तियां हैं—लोभ की वृत्ति और स्वार्थ की वृत्ति। ये जन्म देती हैं क्रूरता को। संवेदनशीलता से ही ये बदल सकती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान संवेदनशीलता को जगाने की प्रणाली है। जीवन की जितनी प्रणालियां हैं—आर्थिक प्रणालियां और राजनैतिक प्रणालियां—इन सबके दोषों का परिमार्जन करने वाली प्रणाली है—ध्यान की प्रणाली।

ध्यान का मूल प्रयोजन है—चेतना का रूपान्तरण, वृत्तियों का परिष्कार। इनमें पहला परिष्कार है लोभ का, स्वार्थ का।

विषय के निगमन में पक्ष की सहेतुक पुनरावृत्ति होती है। तर्कशास्त्र के इस सिद्धान्त के आधार पर यह कहना मुझे इष्ट होगा—इन्द्रियतृप्ति, मन की तुष्टि, सुविधावादी दृष्टिकोण और अधिकार की मौलिक मनोवृत्ति का परिष्कार किए बिना आर्थिक विकास सुखद नहीं हो सकता, आर्थिक असदाचार को मिटाया नहीं जा सकता, शोषण की इति नहीं हो सकती और स्वस्थ समाज की रचना नहीं हो सकती।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्न है परिष्कार का

काम और अर्थ समाज को बनाने और बिगाड़ने वाले हैं। अर्थ-व्यवस्था पर अनेक विचारकों ने विचार किया है। कार्ल मार्क्स जैसे चिन्तकों ने अर्थ-व्यवस्था को नया रूप देने का प्रयत्न किया। यदि उसके साथ काम-व्यवस्था पर ध्यान दिया जाता तो साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था उत्थान से पहले उपहत नहीं होती। काम का एक अर्थ है—काम वासना (सेक्स)। उसका दूसरा अर्थ है—अधिकार, संग्रह और उपभोग की इच्छा। अनियंत्रित काम-व्यवस्था अनियंत्रित अर्थ-व्यवस्था से कम खतरनाक नहीं होती।

जीवन के चार आयतन हैं—काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष। काम पहला आयतन है। काम भीतर रहता है। उसकी अभिव्यक्तियां बाहर में होती हैं। काम की जैसी अभिव्यक्ति होती है, वैसी आकृति बन जाती है और वैसा ही श्वास बन जाता है। भीतर काम का एक चक्र चलता रहता है और उसके आधार पर सारे परिवर्तन घटित हो जाते हैं।

जिस व्यक्ति ने काम का परिष्कार नहीं किया, वह अशांति, असंतोष, अप्रसन्नता और अस्थिरता का जीवन जीएगा।

जिस व्यक्ति ने काम का परिष्कार कर लिया, वह शान्ति, संतोष, प्रसन्नता और स्थिरता का जीवन जीएगा।

प्रश्न है परिष्कार का। इस शरीर में रहने वाला, इन्द्रिय और मन के जगत में जीने वाला कोई भी व्यक्ति सर्वथा अकाम बन जाए, सर्वथा कामना से मुक्त हो जाए, यह कल्पना नहीं की जा सकती। यह सोचा जा सकता है कि किस व्यक्ति ने कितना परिष्कार किया है, कितना शोधन किया है। शोधन का सिद्धान्त संभव बनता है, अकाम का सिद्धान्त सम्भव नहीं बनता। अकाम की स्थिति वीतराग की स्थिति है। जब वह स्थिति प्राप्त होती है, तब व्यक्ति सांसारिक सम्बन्धों से मुक्त हो जाता है। उसका प्रस्थान दूसरे संसार के लिए हो जाता है।

दो बातें हैं। एक है कामना की पूर्ति और दूसरी है कामना का परिष्कार। कामना की पूर्ति का साधन है—अर्थ। यह जीवन का दूसरा पुरुषार्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। अर्थ के आधार पर ही कामनाओं को पूरा किया जाता है। मन में कामना जागती है। अर्थ-व्यय से वह पूरी हो जाती है। मन में कामना जागी, अमुक प्रकार का कपड़ा पहनूं, अमुक मिठाई खाऊं। पास में पैसा है। बाजार में गया, कपड़ा खरीदा, पहन लिया। मिठाई खरीदी, खा ली। कामना की पूर्ति हो गई।

मानसिक अशांति का कारण

निरंकुश कामना और निरंकुश अर्थ—ये दोनों अपरिष्कृत रहकर व्यक्ति में जो परिवर्तन लाते हैं, वह परिवर्तन मानसिक अशांति को जन्म देता है। मानसिक अशांति के दो मुख्य कारण हैं—निरंकुश काम और निरंकुश अर्थ। जब तक इन दोनों का परिष्कार घटित नहीं होता, तब तक आदमी बेचैनी, अवसाद, हीनता आदि से बच नहीं सकता।

आदमी कामनाओं से आक्रान्त है। उसकी पूर्ति के लिए उसने अर्थ भी जुटा लिया उसकी मानसिक व्यग्रता आकाश को छूने लग गई। वह और अशान्त हो गया। आज के विकसित राष्ट्र, जो साधनों से सम्पन्न हैं, जिनके पास प्रचुर वैभव है, संपत्ति है, अर्थ के स्रोत हैं, वे इस मानसिक अशांति के जीते-जागते उदाहरण हैं।

एक भाई ने बताया—संसार का छियालीस प्रतिशत धन केवल एक राष्ट्र अमेरिका के पास है। शेष चौवन प्रतिशत धन सारे संसार के पास है। एक राष्ट्र के पास इतना प्रचुर धन? क्या होगा? जितना प्रचुर धन उतना ही प्रचुर असंतोष। इस असंतोष की तुलना में कहा जा सकता है कि विश्व में जितने अपराध होते हैं उनका छियालीस प्रतिशत हिस्सा अमेरिका को मिलेगा और चौवन प्रतिशत शेष संसार को प्राप्त होगा। कितना अपराध! धन की प्रचुरता, असंतोष की प्रचुरता और अपराध की प्रचुरता।

इन सारे तथ्यान्वेषणों से एक निष्कर्ष निकलता है—अपरिष्कृत काम और अर्थ नई व्याधियों को उत्पन्न करते हैं, नई समस्याओं को जन्म देते हैं, मानसिक दुःखों को प्रगट करते हैं। इस स्थिति में यह अपेक्षा प्रत्यक्ष होती है कि इन दोनों का परिष्कार किया जाए।

परिष्कार का साधन

परिष्कार का साधन है धर्म। धर्म के द्वारा काम का परिष्कार किया जा सकता है। धर्म के द्वारा अर्थ का परिष्कार किया जा सकता है। कामशुद्धि और अर्थशुद्धि—दोनों अपेक्षित हैं।

आयुर्वेद की चिकित्सा पद्धति में विषों का उपयोग होता है। उसमें पारद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का भी उपयोग होता है, संखिया तथा गंधक का भी उपयोग होता है। अपरिष्कृत पारद, गंधक या संखिया बहुत हानिकारक होते हैं। इनके सेवन से मृत्यु हो जाती है। इनका शोधन हो जाने पर ये उपयोगी बन जाते हैं। शोधन किया हुआ पारा, संखिया या गंधक मारने वाले नहीं, उबारने वाले बन जाते हैं। शोधन के पश्चात् इनकी विषैली शक्ति कम हो जाती है और इनकी उपयोगिता बढ़ जाती है।

काम और अर्थ का परिष्कार हो जाने पर शक्ति में परिवर्तन आ जाता है। जितनी बुराइयां, अनैतिकता, अनाचार और अप्रामाणिकताएं होती हैं, वे सब अपरिष्कृत काम के कारण होती हैं।

निदर्शन अपरिष्कृत और परिष्कृत काम का

काम परिष्कृत भी होता है और अपरिष्कृत भी होता है।

एक व्यक्ति था विद्वान और वैभवशाली। विद्या और लक्ष्मी का योग कम मिलता है, पर वह विद्यावान भी था और लक्ष्मीवान भी। एक पुजारी उसके पास आकर बोला—'पंडितवर! आज रात को मुझे एक सपना आया। उसमें मैंने भगवान को देखा। उन्होंने मुझे कहा—जाओ, उस पंडित के पास और उसे कहो कि भगवान का आदेश है कि दस हजार रुपये वह तुम्हें दे। उन रुपयों से नया मंदिर बनवाना है इसलिए मैं आया हूं। आप मुझे रुपया दें और भगवद् आज्ञा का पालन करें।'

धनी पंडित ने सोचा—यह मुझे ठगने आया है और वह भी भगवान के नाम पर। भगवान क्यों कहने आते नए मंदिर के निर्माण के लिए। पंडित ने कहा—'पुजारीजी! बात तो तुमने अच्छी कही। भगवान का आदेश मानना ही होगा। रात भर विश्राम करो। मैं सोच लूं। प्रातःकाल जो कुछ होगा, देखा जाएगा।'

पुजारी रात भर वहीं रहा। सोचा, पंडित मेरी ठगाई में आ गया। रात बीती। प्रभात हुआ। पण्डित उठा। पुजारी आया। पण्डित ने कहा—'पुजारीजी! तुमने कल भगवान का जो आदेश कहा, वह ठीक था। आज रात को मेरे पास भी भगवान आए। सपने में उनका साक्षात्कार हुआ। उन्होंने कहा—सामने जो चबूतरा बना हुआ है, उसके नीचे दस हजार रुपये गड़े हुए हैं। पुजारी को कहना कि वह उस चबूतरे को उखाड़ कर दस हजार रुपये ले ले और मंदिर बनवा दे।'

पुजारी बोला—'पंडितजी! खुदाई करूं और रुपये न मिले तो क्या होगा।' पंडित ने कहा—'लगता है, तुम्हें भगवान के दर्शन हुए ही नहीं। तुम्हें भगवान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर भरोसा ही नहीं है। जैसे तुमको भगवान कह गए हैं, वैसे ही मुझे भी कह गए हैं। जैसे तुम्हें अपने भगवान पर भरोसा है, वैसे ही मेरे भगवान पर क्यों नहीं है? झूठे हो तुम, चले जाओ यहां से।'

पुजारी अपना-सा मुंह लेकर चलता बना।

यह अपरिष्कृत कामना का परिणाम है। सारी प्रवंचनाएं, छलनाएं और ठगाइयां अपरिष्कृत काम या इच्छा से पैदा होती हैं। जब कामना का परिष्कार होता है तब आदमी में ठगने की भावना नहीं होती, विसर्जन की भावना, देने की भावना जाग जाती है। वह अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु का भी विसर्जन कर देता है।

एस्किमो जाति, जो ध्रुव प्रदेश में रहती है, को काम परिष्कार के निदर्शन के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। उनकी कामना इतनी परिष्कृत है कि पदार्थ के प्रति उनकी मूर्च्छा नहीं के समान है। दूसरों को प्रिय लगने वाली वस्तु का विसर्जन करने में वे कभी पीछे नहीं रहते। उनका पहला तर्क है—हम वस्तु को भोग चुके हैं। अब इसके प्रति मन में कोई आकर्षण नहीं बचा है। जिनके मन में आकर्षण है, वे इसे भोगें। दूसरा तर्क है—संपत्ति पर व्यक्ति का अधिकार नहीं होता, समाज का अधिकार होता है, पूरी मनुष्य जाति का अधिकार होता है। जैसे यह वस्तु हमारी है, वैसे ही तुम्हारी है। तुम इसका उपयोग करो।

यह है परिष्कृत कामना का विचार। कामना के परिष्कृत होने पर ठगने, लूटने या हड़पने की भावना समाप्त हो जाती है।

महाकवि माघ की यह सर्वविदित प्रकृति थी कि जब कोई व्यक्ति याचना कर लेता तो वे बिना दिए नहीं रहते। जो वस्तु उनके पास होती, मांग करने वाले को वह निश्चित ही मिल जाती। पंडित थे। सरस्वती के प्रिय पुत्र। लक्ष्मी का वरदान प्राप्त नहीं था। काव्य-रचना से कुछ मिल जाता पर दान की इस प्रवृत्ति ने उन्हें भयंकर गरीबी में ला पटका।

एक बार एक व्यक्ति आकर बोला—'पंडित प्रवर! लड़की का विवाह करना है। पैसा नहीं है पास में। आप ही लज्जा रख सकते हैं।' कवि माघ ने सोचा—अब क्या दूं? पास में फूटी कौड़ी भी नहीं है। इसकी मांग कैसे पूरी करूं? इधर-उधर देखा। देने योग्य कोई भी वस्तु नहीं मिली। अचानक उनकी दृष्टि अपनी पत्नी पर जा टिकी। वह सो रही थी। उसके हाथ में स्वर्ण-कंगन थे। माघ कवि चुपके से वहां गए। धीरे से एक हाथ का कंगन निकाला। पत्नी जाग गई। उसने जान लिया कि कोई न कोई याचक आया है। वह तत्काल बोली—'यह दूसरा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कंगन और ले जाओ। एक कंगन से क्या होगा?'

यह है कामना का परिष्कार। जब यह घटित होता है तब व्यक्ति का मनोभाव बदल जाता है, उदारता आ जाती है। जब काम-शुद्धि घटित होती है तब साथ-साथ अर्थ-शुद्धि भी होती है।

प्रथम है काम-शुद्धि

आज अनैतिक आचरण को मिटाने के लिए प्रयत्न हो रहे हैं। शासन और समाज—दोनों इसमें लगे हुए हैं। दंडशक्ति को काम में लिया जा रहा है। नए-नए कानून बन रहे हैं। प्रश्न होता है—यदि काम अपरिष्कृत बना रहेगा तो अर्थ-शुद्धि घटित हो सकेगी? ऐसा होना संभव नहीं है। रोग कहीं है और दवाई किसी को दी जा रही है। बीमारी कहीं और दवा कहीं। बीमारी तो है काम-अशुद्धि की और प्रयत्न हो रहा है अर्थ-शुद्धि का। कितना विपर्यास! यह विपर्यास इसलिए चलता है कि हम सचाई का अनुभव नहीं करते, सचाई की दिशा में प्रस्थान नहीं करते। जब तक आदमी सचाई की दिशा में प्रस्थित नहीं होगा, जब तक वह धर्म की खोज में नहीं चलेगा, जब तक वह मूल भूल को नहीं पकड़ पायेगा, तब तक फूल और पत्तों को तोड़ने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। पतझड़ का होना और वसन्त का आना—यह नियति का चक्र है, स्वाभाविक क्रम है। हम मूल को पकड़ें।

अर्थ-शुद्धि द्वयं है। प्रथम है काम-शुद्धि। अर्थ शुद्धि के अनेक प्रयत्न हैं। इतना नियंत्रण है, टेक्स है कि अमुक धनराशि से अधिक पास में न रखी जाए। ये अर्थ-शुद्धि के प्रयत्न, अर्थ-विभाजन के प्रयत्न, गरीबी और अमीरी को मिटाने के प्रयत्न अर्थहीन हो रहे हैं क्योंकि इनके साथ धर्म का योग नहीं है।

धर्म के बिना काम का परिष्कार नहीं होता और काम के परिष्कार के बिना अर्थ का परिष्कार नहीं हो सकता। केवल अर्थ-शुद्धि घटित करने का अर्थ है—हम परिणाम को मिटाना चाहते हैं, कारण को मिटाना चाहते हैं। यह एक भयंकर दार्शनिक भूल है। हम प्रवृत्ति को मिटाना नहीं चाहते, परिणाम को मिटाना चाहते हैं। हम परिणाम का शोधन करना चाहते हैं पर प्रवृत्ति के शोधन की बात नहीं सोचते। प्रवृत्ति है तो परिणाम होगा ही। केवल परिणाम का शोधन कार्यकारी नहीं हो सकता।

परिग्रह है मूर्च्छा

धर्म एक खोज है प्रवृत्ति के शोधन की, काम के परिष्कार की। इसमें इस बात पर बल नहीं दिया गया कि अर्थ का अर्जन अधिक मत करो। इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बात पर अधिक बल दिया गया कि कामना का परिष्कार करो, साधन-शुद्धि को ध्यान में रखो। महावीर ने परिग्रह की परिभाषा करते हुए कहा—मूर्च्छा परिग्रह है। उन्होंने यह नहीं कहा—धन परिग्रह है। मूल परिग्रह है काम, कामना। अर्थ दूसरे नम्बर में परिग्रह बनता है। कपड़ा, रोटी और मकान परिग्रह बनते हैं, पर ये मूल परिग्रह नहीं हैं। कपड़ा, रोटी और मकान परमाणु हैं, परमाणुओं के पिण्ड हैं, वे बेचारे क्या परिग्रह बनेंगे? परमाणु हमारा न कुछ बिगाड़ता है और न कुछ भला करता है। परमाणु परमाणु है। चैतन्य चैतन्य है। वह परिग्रह नहीं बनता। परिग्रह बनता है काम। कहना यह चाहिए, एक ही बात हमारे सामने दो रूपों में प्रगट होती है। यह द्वैत व्यक्तित्व है, दोहरा व्यक्तित्व है। व्यक्तित्व का एक रूप है काम और दूसरा रूप है परिग्रह। जब काम का अस्तित्व रहता है तब अर्थ भी परिग्रह बन जाता है।

एक त्यागी मुनि कपड़े पहनता है, रोटी खाता है, मकान में रहता है। वह परिग्रह नहीं है। न कपड़ा परिग्रह है, न रोटी परिग्रह है और न मकान परिग्रह है। मुनि कभी-कभी राजप्रासादों में रहते हैं। बड़े-बड़े धनवानों के विशाल भवनों में आवास करते हैं। यदि मकान परिग्रह बनता तो मुनि सबसे बड़े परिग्रही होते। उनके जितना परिग्रही कोई नहीं होता, क्योंकि प्रतिदिन नए-नए मकानों में रहते हैं। वर्ष भर में न जाने कितने मकानों में रह जाते हैं, पर कहीं कोई परिग्रह नहीं छू पाता।

पूछा गया—साधक खाता है, पीता है, और भी अनेक वस्तुएं रखता है, उनका उपभोग करता है, फिर भी परिग्रह नहीं, क्यों? आचार्य ने कहा—ममत्व या मूर्च्छा के जुड़े बिना पदार्थ परिग्रह नहीं बनता। ममत्व परिग्रह है, केवल पदार्थ परिग्रह नहीं है।

यह एक महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक सचाई है—वस्तु परिग्रह नहीं है, परिग्रह है हमारे भीतर रहा हुआ काम। जब काम का परिष्कार हो जाता है, काम-शुद्धि हो जाती है तब वस्तु अपरिग्रह बन जाती है। जब तक काम अपरिष्कृत रहता है, तब तक वस्तु परिग्रह बनी रहती है। इसीलिए आचार्यों ने परिग्रह को दो भागों में बांटा—एक है भीतर का परिग्रह और दूसरा है बाहर का परिग्रह। सारी मानसिक ग्रंथियां भीतर के परिग्रह हैं। सोना, चांदी, लोहा, धन-धान्य आदि बाहर का परिग्रह है। बाहर का परिग्रह हमें नहीं बांधता। बांधता है भीतर का परिग्रह। काम भीतर का परिग्रह है। वह बांधता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काम, अर्थ और धर्म

काम और अर्थ जीवन-यात्रा को चलाने के लिए हैं। काम के बिना जीवन की यात्रा नहीं चलती। जीवन की यात्रा तब तक चलती है, जब तक काम है। कामना तब तक पूरी नहीं होती जब तक अर्थ नहीं होता। कामना की पूर्ति का एकमात्र साधन है अर्थ। जो आदमी केवल इन दो आयतनों में ही जीना चाहता है, वह आदमी शांति का जीवन नहीं जी सकता। वह व्यक्ति संतोष, स्थिरता और प्रसन्नता का जीवन नहीं जी सकता।

आज के लोग दो खेमों में बंटे हुए हैं। कुछ लोग केवल दो आयतनों—काम और अर्थ—में जीना चाहते हैं। वे धर्म को भी नकारते हैं और मुक्ति को भी नकारते हैं। कुछ लोग चार आयतनों में जीना चाहते हैं। जो केवल दो आयतनों में जीना चाहते हैं वे मानवीय चेतना के साथ खिलवाड़ करते हैं। वे मनुष्य को केवल रोटी के आधार पर जिलाना चाहते हैं। क्या रोटी मन की शांति दे सकती है? जिन्हें प्रचुरता से रोटी उपलब्ध है उनका मन भी प्रचुर रूप से अशान्त बना हुआ है। जिन्हें रोटी की प्रचुरता है, वे बड़ी से बड़ी अनैतिकता और बुराई करने में नहीं हिचकते। हम इस सचाई को स्वीकार करें—रोटी ही सब कुछ नहीं है। रोटी के अलावा भी बहुत अपेक्षाएं हैं हमारे जीवन की। उन अपेक्षाओं की पूर्ति धर्म और मोक्ष से हो सकती है। हमें जाने-अनजाने तीसरे आयतन—धर्म में प्रवेश करना ही होगा। वह धर्म, जो प्रायोगिक है।

काम साध्य है। अर्थ उसकी पूर्ति का साधन है। हम अर्थ-व्यवस्था को संतुलित करना चाहते हैं और काम व्यवस्था की उपेक्षा करते हैं। क्या असन्तुलित काम व्यवस्था में संतुलित अर्थ-व्यवस्था का जन्म होगा? उत्तर सीधा है—नहीं होगा। यदि हो गया तो वह शैशव काल भी पूरा नहीं कर पाएगा। प्रत्येक राष्ट्र में काम पर विचार करने वाले कामशास्त्री और अर्थ पर विचार करने वाले अर्थशास्त्री हुए हैं और आज भी हैं। दोनों प्रकार के चिन्तक काम और अर्थ को विभक्त कर देखते रहे हैं। वह एकांगी दृष्टिकोण ही परिष्कार के लिए समस्या बन रहा है। कुछ धर्माचार्यों ने काम, अर्थ और धर्म को एक साथ देखा। उनका दृष्टिकोण सर्वांगीण बना। उन्होंने कहा—काम और अर्थ का परिष्कार करो। उस परिष्कार का साधन होगा धर्म।

काम की व्यवस्था किए बिना राष्ट्र के पतन का उदाहरण है रावण का साम्राज्य। रावण की मृत्यु पर मंदोदरी ने कहा—'पतिदेव! तुमने इन्द्रियों पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विजय प्राप्त कर साम्राज्य की स्थापना की थी। लगता है—उस वैर को याद करती हुई इन्द्रियों ने तुम्हें पराजित कर दिया और वह साम्राज्य आज शीशे के महल की भांति टूट गया।'

जैसे मार्क्स ने अर्थ-व्यवस्था की विसंगतियों का अध्ययन कर एक समीचीन अर्थ-व्यवस्था की रूपरेखा प्रस्तुत की थी वैसे ही काम-व्यवस्था की निरंकुशता का अध्ययन कर उसकी समीचीनता का प्रतिपादन आवश्यक है। काम और अर्थ को विभक्त कर समीचीनता के सूत्र को नहीं पकड़ा जा सकता। स्वस्थ समाज की रचना के लिए अर्थ-व्यवस्था पर ध्यान देना जितना जरूरी है उतना ही जरूरी है काम-व्यवस्था पर ध्यान देना।

काम मनुष्य की दैहिक मांग और भावात्मक प्रेरणा है। अर्थ-संग्रह दैहिक मांग नहीं है। वह एक मनोवृत्ति और भावात्मक प्रेरणा है। दैहिक, मानसिक और भावात्मक प्रेरणाओं का सामंजस्य स्थापित किए बिना समाज को अपराधमुक्त नहीं किया जा सकता।

अर्थ का विनिमय हो सकता है इसलिए वह सामाजिक तत्त्व है। काम वैयक्तिक है। उसकी व्यवस्था कैसे की जाए? कौन करे? यह एक जटिल प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर भी खोजा गया है। काम के द्वारा पैदा की जाने वाली सामाजिक समस्या अपराध है और व्यवस्था-भंग मानव जाति के लिए सिरदर्द है। इसलिए उस पर नियंत्रण करने के मार्ग समाज और धर्म दोनों स्तरों पर खोजे गए। काम की उच्छृंखलता पर अंकुश लगाने के लिए समाज के पास एक दंड-संहिता है और धर्म के पास एक आचार-संहिता है। दण्ड-संहिता से परिष्कार नहीं होता। उसमें भय पैदा करने की क्षमता है। भय निरोध का प्राथमिक मार्ग है। आचार-संहिता से हृदय-परिवर्तन होता है किन्तु उसका प्रभाव दीर्घकालिक नहीं होता। परिष्कार के लिए प्रशिक्षण और प्रयोग सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

जीवन विज्ञान और मस्तिष्क प्रशिक्षण

1. मस्तिष्क में असीम शक्ति है।
2. उसको जागृत किया जा सकता है।
3. शक्ति की जागृति तनाव और थकान के बिना की जा सकती है।
4. मस्तिष्क विद्या के अनुसार मस्तक का बायां भाग तर्क, गणित, भाषा और भौतिक विचार के लिए उत्तरदायी है। उसका दायां भाग आध्यात्मिक जागृति, अन्तःप्रज्ञा, स्वप्न और कल्पना के लिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तरदायी है। जीवन विज्ञान की शिक्षा-प्रणाली इन दोनों के संतुलित विकास की पद्धति है।

5. अनुकंपी नाड़ीतंत्र (पेरासिंपेथेटिक नर्वस सिस्टम) की अति सक्रियता से व्यक्ति आक्रामक, उद्दण्ड बनता है, बेचैनी का अनुभव करता है। परानुकंपी नाड़ीतंत्र (सिंपेथेटिक नर्वस सिस्टम) की अति सक्रियता से व्यक्ति डरपोक, दब्बू, हीनभावना से ग्रस्त होता है। यह स्नायविक असंतुलन है। जीवन विज्ञान इन दोनों के संतुलन की पद्धति है।
6. विवेक (रीजनिंग माइंड) और संवेग (इमोशन) में संघर्ष होता रहता है। विवेक कहता है—यह काम गलत है, नहीं करना है। संवेग प्रबल होता है, उसे करा देता है। इसलिए ज्ञान और आचरण की दूरी बनी रहती है। जीवन विज्ञान संवेग-नियंत्रण की पद्धति है।
7. संवेद (सेंस एनर्जी) निरन्तर क्रियाशील रहते हैं। इससे शक्ति का बहुत अपव्यय होता है। अति सक्रियता से मस्तिष्क और मेरुदण्ड प्रणाली पर दबाव पड़ता है। उससे स्वचालित नाड़ीतंत्र की प्रणाली पर दबाव पड़ता है। जीवन विज्ञान संवेद-नियंत्रण की पद्धति है।
8. प्रमस्तिष्क (सेरेब्रम) में शक्ति संचित है। अनुमस्तिष्क (सेरेबलम) उसका नियंत्रण करने वाला है। उसके द्वारा शक्ति प्रवाहित होकर सुषुम्ना शीर्ष (मेडुला आंबलागेटा) में जाती है। वहां से यह मेरु में जाती है। वहां से शरीर की सारी प्रक्रियाएं चालू होती हैं। जीवन विज्ञान के द्वारा चेतना-प्रक्रिया (कांसस एक्टिविटी) को कम कर बिंब प्रक्रिया (रिफ्लेक्स एक्टिविटी) को बढ़ाया जा सकता है, जिससे मस्तिष्क पर दबाव न पड़े।
9. पीनियल ग्लेंड की निष्क्रियता से नियंत्रण की क्षमता कम हो जाती है। थाइमस ग्लेंड की निष्क्रियता से आनन्द की अनुभूति में कमी आ जाती है। बाहर की ओर झुकाव बढ़ जाता है।
10. व्यवहार और आचरण का मुख्य आधार भावधारा है। भाव दो भागों में विभक्त है—विधेयात्मक (पोजिटिव) और निषेधात्मक (निगेटिव)।

मनोविज्ञान के अनुसार इसका विश्लेषण इस प्रकार है:

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विधेयात्मक

(आचार/व्यवहार)

भाव	व्यक्तित्व	परिणाम
विश्वास	उत्साही	सफलता
अभय	आशावादी	समादर
धैर्य	प्रसन्न	निश्चिंतता
सहिष्णुता	तनावमुक्त	आंतरिक शांति
मृदुता	विनयशील	मैत्री
श्रद्धा	सहृदय	स्वस्थता
निष्ठा	सहानुभूतिपूर्ण	सुख
सामंजस्य	वीरतापूर्ण	विकास
पारस्परिक समझ	अनुशासनबद्ध	साहस
	निषेधात्मक	
घृणा	दुर्बल	कुण्ठा
ईर्ष्या	कठोर	निराशा
संदेह	उद्दण्ड	लाचारी
लोभ	नीरस	उद्विग्नता
माया	चिड़चिड़ा	दुःख
दीनता/हीनता	रूखा	असफलता
छिद्रान्वेषण	आलसी	रुग्णता
अहं	डांवाडोल	दरिद्रता
आग्रह	धोखेबाज	थकावट
द्वेष	स्वार्थी	ऊब

जीवन-विज्ञान के द्वारा विधेयात्मक भाव का विकास कर निषेधात्मक भाव से मुक्ति पाई जा सकती है।

तनाव की अवस्था में ग्रहणशीलता और स्मृति प्रभावित होती है। जीवन विज्ञान तनावमुक्ति की प्रक्रिया है। इससे ग्रहण की क्षमता बढ़ती है, स्मृति का संवर्धन और बौद्धिक विकास होता है। विद्यार्थी को कायोत्सर्ग (शिथिलीकरण) की अवस्था में पढ़ाया जाए तो वह अपने विषय को शीघ्र ग्रहण कर सकता है। यह शिक्षा की सद्योग्रहण पद्धति है। इसमें विद्यार्थी को तन्द्रा की अवस्था में ले जाना और अध्यापक द्वारा पाठ का लयबद्ध उच्चारण करना बहुत अपेक्षित है। वह उच्चारण सुझाव (सजेशन) के रूप में प्रस्तुत किया जाए। इसमें संदेश-पद्धति बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है। उसके द्वारा चेतन और अचेतन मन के बीच संवाद स्थापित किया जा सकता है।

स्मृति-संवर्धन और ग्रहण-क्षमता का मौलिक आधार है—लयबद्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्वास। लयात्मक श्वास के द्वारा मस्तिष्क को पर्याप्त ऑक्सीजन मिल जाती है। जब मस्तिष्क कार्यरत होता है, तब शरीर को तिगुने ऑक्सीजन की जरूरत होती है। लयबद्ध श्वास के द्वारा मानसिक और भावात्मक तनाव कम होता है और ध्यान अपने भीतर की ओर आकर्षित होता है। पाठ पढ़ते समय श्वास का संयम (कुम्भक) हो तो वह अधिक प्रभावी बनता है।

जीवन विज्ञान मस्तिष्क प्रशिक्षण की पद्धति है। उसके तीन अंग हैं—

1. संवेद नियंत्रण पद्धति 2. संवेग नियंत्रण पद्धति 3. विचार नियंत्रण पद्धति।

इसके साध्य तत्त्व सात हैं—

1. श्वास नियंत्रण 2. शरीर नियंत्रण 3. चैतन्य केन्द्र जागरण 4. स्वभाव परिवर्तन 5. आभामंडलीय निर्मलता 6. सामुदायिक चेतना का विकास 7. रचनात्मक शक्ति का विकास।

इसके साधक तत्त्व पांच हैं—

1. श्वास प्रेक्षा 2. शरीर प्रेक्षा 3. चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा 4. अनुप्रेक्षा (संदेश और अनुचिन्तन) 5. लेश्याध्यान (आभामण्डल का ध्यान)।

अनुप्रेक्षा मस्तिष्क प्रशिक्षण की प्रक्रिया है। उसमें पुनरावृत्ति की जाती है। संस्कार निर्माण के लिए एक मास से तीन मास तक प्रतिदिन 50 से 100 आवृत्तियां की जाती हैं। शिक्षण के लिए 32 से 50 आवृत्तियां करना आवश्यक है।

मस्तिष्क प्रशिक्षण प्रणाली के द्वारा मस्तिष्क और शरीर को प्रतिदिन नियन्त्रित किया जा सकता है।

इसके द्वारा व्यवसाय, खेलकूद, अन्तरिक्ष यात्रा, समुद्र यात्रा, पर्वतारोहण आदि विभिन्न क्षेत्रों के कठिन प्रतीत होने वाले कार्य सरलतापूर्वक किये जा सकते हैं। इस प्रणाली के द्वारा अन्तःप्रज्ञा (इन्ट्यूशन) को विकसित कर अनेक महत्त्वपूर्ण निर्णय लिये जा सकते हैं। व्यवसाय प्रबन्धक, राजनयिक, प्रशासनतंत्र के अधिकारी, न्यायाधीश और कार्यपालिका के सदस्य—ये सभी इससे लाभान्वित हो सकते हैं। पुलिस और सेना के लिए भी इनका बहुत मूल्य है। एकाग्रता, संकल्पशक्ति, नियंत्रण की क्षमता और स्वभाव की पुनर्रचना—ये जीवन की उपलब्धियां हैं। जीवन विज्ञान के प्रयोग द्वारा इन्हें प्राप्त किया जा सकता है।

असंतुलित संवेग: आपराधिक वृत्तियां

मनुष्य में मौलिक मनोवृत्तियां और संवेग होते हैं। संवेग जीवन को बहुत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रभावित करते हैं। इसलिए उन पर अनुशासन करना विकासशील प्राणी के लिए बहुत आवश्यक है। विद्यार्थी के जीवन में इसकी जटिल समस्या संक्रमण काल में आती है। जब दो अवस्थाओं का संधिकाल होता है तब एक खतरनाक मोड़ उपस्थित होता है। आठ-नौ वर्ष की अवस्था, ग्यारह-बारह वर्ष की अवस्था और सत्रह-अठारह वर्ष की अवस्था—ये दो—तीन ऐसे मोड़ हैं जहां अत्यन्त सावधानी और सजगता की जरूरत रहती है। शिशु किशोर बनता है। उसकी मांसपेशियां शक्तिशाली बनती हैं। जब मांसपेशियां शक्तिशाली बनती हैं तब शरीर में शक्ति का प्रारम्भ होता है। यह किशोरावस्था की दहलीज है। इस पर पैर रखते ही कुछ शारीरिक परिवर्तन होते हैं, क्रियाएं बदलती हैं। यौवन के बीज अंकुरित होने लगते हैं और शरीर में उभार आता है। इस अवस्था में भय, क्रोध, मान-अपमान का बोध, सत्कार और तिरस्कार की अनुभूति—ये सारे संवेग प्रबल बनते हैं। यदि इस अवस्था के संवेगों को ठीक ढंग से संभाला जाए, उन्हें अनुशासित किया जाए तो जीवन की गाड़ी पटरी पर चल सकती है। अन्यथा पटरी से नीचे उतर जाती है।

ये संतुलित संवेग हमारे ग्रन्थितंत्र और नाड़ीतंत्र—दोनों को प्रभावित करते हैं। जब ये दोनों तंत्र संतुलित रहते हैं तब जीवन का क्रम उचित ढंग से चलता है। इसमें विकार होते ही जीवन गड़बड़ा जाता है। विकार का मूल कारण है—असंतुलित संवेग। ये विकारों को उत्पन्न करते हैं। एक बच्चा चिड़चिड़ा स्वभाव का है, अन्यमनस्क है। इसका कारण है—असंतुलित संवेग। इसके फलस्वरूप बालक में विचित्र प्रकार की जटिल आदतें बन जाती हैं, कामुकता का उभार अधिक हो जाता है, वह अपराध में फंस जाता है।

आज बाल-मनोविज्ञान पर काफी कार्य हुआ है। बाल अवस्था में जो आदतें बनती हैं, उनके कारण भी खोजे गए हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में यह ध्यान देना बहुत जरूरी है कि बालक की आदतें जटिल न बनें और वह विकारों में न फंसे। इसके लिए उसके संवेगों पर ध्यान देना आवश्यक है। जैसे अक्षरबोध शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण अंग है, जैसे भाषा और तर्क का बोध शिक्षा का एक अनिवार्य अंग है वैसे ही जीवन के निर्माण का बोध भी शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। जैसे गणित का ज्ञान शिक्षा का एक अनिवार्य अंग है वैसे ही जीवन-निर्माण का ज्ञान भी शिक्षा का अनिवार्य अंग है। अक्षर-बोध, गणित का ज्ञान, भाषा और तर्क का बोध—ये आजीविका के साधन हैं। ये जीवन के साध्य नहीं हैं। कभी-कभी आदमी साधन को प्रथम मान लेता है और मूल को भुला बैठता है। आदमी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का सारा ध्यान साधन पर अटका रहता है। साधन जिसके लिए है, वह उपेक्षित रह जाता है। सब्जेक्ट आंखों से ओझल हो जाता है और सारा ध्यान ऑब्जेक्ट पर अटका रह जाता है। व्यक्ति आग से जलते हुए घर में से सारा कीमती सामान निकाल लेता है, पर उस बच्चे को, जो उस सामग्री का भोक्ता होने वाला है, निकालना भूल जाता है। भोग्य पदार्थ बचा लिया जाता है और भोक्ता आग में जलकर भस्म हो जाता है।

हमारा ध्यान सब्जेक्ट पर, भोक्ता पर नहीं है। सारा ध्यान ऑब्जेक्ट पर, भोग्य पर केन्द्रित है। यह एक दुर्व्यवस्था है। इसका प्रतिरोध या प्रतिकार बहुत आवश्यक है।

यह नहीं कहा जा सकता--साधनों पर ध्यान नहीं जाना चाहिए। साधन जरूरी है। उन्हें टाला नहीं जा सकता। मुख्य बात यह है कि वे जिसके लिए हैं, वह उपेक्षित नहीं होना चाहिए।

शिक्षा का उद्देश्य

संवेगों का परिष्कार इसलिए जरूरी है कि यदि बालक अपने विद्यार्थी जीवन में असंतुलित संवेग वाला बन गया तो वह समाज के लिए सिरदर्द बन जाएगा। हम नहीं चाहते कि विद्यार्थी समाज के लिए सिरदर्द बने। आज तो यह स्थिति है कि विद्यार्थी शिक्षा के क्षेत्र में भी सिरदर्द बन जाता है। जो शिक्षाकाल में सिरदर्द बन जाता है वह आगे जाकर पूरा सिरदर्द बनेगा ही। इसलिए आवश्यक है कि शिक्षा के क्षेत्र में विद्यार्थी के बौद्धिक विकास की तरफ जैसे ध्यान दिया जाता है वैसे ही उसके भावात्मक विकास की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। इसके लिए संवेग का परिष्कार करना बहुत आवश्यक है।

किशोर अवस्था में आते-आते शारीरिक उभार के साथ, अंगों के विकास के साथ कुछ प्रवृत्तियां अनायास बन जाती हैं। इसे नकारा नहीं जा सकता। शिक्षा के क्षेत्र में शरीर मनोविज्ञान की या जैविक रसायनों के अध्ययन की जो उपेक्षा हुई है उससे शिक्षा का प्रासाद पूरा बना नहीं, अधूरा ही रह गया। शिक्षा का उद्देश्य है--सर्वांगीण विकास। सर्वांगीण विकास में केवल बौद्धिक विकास की बात पर्याप्त नहीं होती।

सर्वांगीण विकास के घटक तत्त्व

सर्वांगीण विकास के लिए चार बातें आवश्यक हैं--

1. शारीरिक विकास 2. मानसिक विकास 3. बौद्धिक विकास 4. भावनात्मक विकास।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज के विद्यालयों में बौद्धिक विकास पर्याप्त मात्रा में कराया जाता है और शारीरिक विकास के लिए भी छुटपुट प्रयास चलते रहते हैं। किन्तु मानसिक विकास और भावनात्मक विकास के लिए बहुत कम संभावनाएं रहती हैं। इन दोनों का विकास होना आवश्यक है। इसके विकास का मूल उपाय है—संवेगों का परिष्कार।

भय एक संवेग है। इसके कारण मनुष्य शारीरिक और मानसिक पीड़ाओं को भोगता है। यदि भय और चिंता का संवेग टलता है, खतरे की बात कम होती है तो बहुत सारी बीमारियां भी टल जाती हैं, मनोकायिक (साइकोसोमेटिक) बीमारियों में परिवर्तन आ जाता है। आदमी भय को छोड़ना चाहता है। भय, क्रोध आदि किसी को अच्छे नहीं लगते। बच्चा भी क्रोध करता है, पर वह जानता है कि क्रोध का परिणाम बुरा होता है। क्रोध से झंझट बढ़ता है। माता-पिता को अच्छा नहीं लगता। लड़ाइयां होती हैं।

पर प्रश्न है कि क्रोध, भय आदि को कैसे मिटाएं? कैसे कम करें? ज्ञान मात्र से आचरण की दूरी नहीं मिटती। इसके लिए अभ्यास जरूरी है। अभ्यास के द्वारा ग्रन्थियों का जागरण, चैतन्य केन्द्रों का जागरण बहुत महत्त्वपूर्ण है। हमें वैज्ञानिक और आध्यात्मिक दृष्टि से इन पहलुओं पर विचार करना होगा। आध्यात्मिक दृष्टि यह है कि जिस व्यक्ति का तृतीय नेत्र जागृत होता है, वह अपने भावों पर कन्ट्रोल कर सकता है। तीसरे नेत्र का उद्घाटन और हृदय-परिवर्तन—ये दो माध्यम हैं संवेगों को परिष्कृत करने के लिए।

हम वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें। जिस व्यक्ति का पीनियल ग्लैण्ड सक्रिय होता है, वह अपने संवेगों पर नियंत्रण कर सकता है अथवा हाइपोथेलेमस, जो भाव-संवेदन का केन्द्र है, उसको नियंत्रित करने पर संवेगों पर नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है। इस बिन्दु पर दोनों दृष्टियां—आध्यात्मिक और वैज्ञानिक—लगभग समान रेखा पर आ जाती हैं।

मस्तिष्कीय परिवर्तन का प्रयोग

हृदय-परिवर्तन का अर्थ समझने में इन शताब्दियों में गड़बड़ हुई है। हृदय का अर्थ रक्त का शोधन करने वाला या रक्त को फेंकने वाला अवयव नहीं है। उसका क्या परिवर्तन किया जाए और उसके परिवर्तन से भाव परिवर्तन कैसे हो जाए? हमने इस पर बहुत विचार और मनन किया। हृदय-परिवर्तन के सन्दर्भ में हृदय का अर्थ है मस्तिष्क का वह भाग जिसे हम हाइपोथेलेमस कहते हैं। एक हृदय है धड़कने वाला, जो फेफड़ों के पास है। एक हृदय है मस्तिष्क में। हमें उसमें परिवर्तन लाना है। यही है हृदय-परिवर्तन का रहस्य।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मस्तिष्क का जो फ्रन्टल लॉब है, जिसे हम योग की भाषा में शान्ति केन्द्र कहते हैं, वह हमारे भावों और संवेगों के लिए जिम्मेदार है। यही है ललाट का भाग। जब कभी मन में विनम्रता का भाव जागृत होता है, ललाट झुक जाता है। यह प्रतीक है हृदय-परिवर्तन का। इस केन्द्र को जागृत करना है, इसमें परिष्कार लाना है।

दूसरा है पीनियल ग्लेण्ड में परिष्कार लाना। यह ज्योति-केन्द्र का स्थान है। शान्ति-केन्द्र प्रेक्षा और ज्योति-केन्द्र प्रेक्षा-ये दो प्रयोग हैं भाव परिष्कार या संवेग परिष्कार के। इनसे संवेगों को अनुशासित किया जा सकता है। यदि विद्यार्थी को दस-बारह वर्ष की अवस्था से ही प्रयोग कराए जाएं तो उसमें संवेग का सन्तुलन होगा, वह पारिवारिक और सामाजिक जीवन अच्छे ढंग से जी सकेगा। वह न अति कामुक और न अति चिड़चिड़ा होगा। उसमें न उदासी होगी और न वह अन्यमनस्कता का शिकार ही होगा।

आज जेनेटिक इंजीनियरिंग में यह चर्चा चल रही है—कुछ दशकों के बाद यह स्थिति बन सकती है कि माता-पिता जैसा लड़का चाहेंगे वैसे लड़के का जीन उन्हें लेबोरेटरी से मिल जाएगा। वकील, डॉक्टर, दार्शनिक आदि के जीन वे खरीद सकेंगे और उन्हीं के अनुरूप बच्चा प्राप्त कर सकेंगे। यह कब संभव होगा, ऐसा निश्चित नहीं कहा जा सकता पर जीन के क्षेत्र में काम करने वाले वैज्ञानिकों का यह अभ्युपगम है, कन्सेप्ट है और वे इसे सत्य करने में जुटे हुए हैं।

विद्यार्थी को बचपन से ही यदि संवेग-परिष्कार का अभ्यास कराया जाए तो माता-पिता की इच्छा को शिक्षक पूरा कर सकेगा। उन्हें एक अच्छा और सुसंस्कृत लड़का मिल जाएगा। यह कोरी कल्पना नहीं है, वैज्ञानिक बात है। आध्यात्मिक और वैज्ञानिक—इन दोनों दृष्टियों से यह प्रमाणित हो चुका है कि आदमी की आदतों को बदला जा सकता है।

संवेग परिष्कार के प्रयोग इस दिशा में अचूक प्रयोग हैं। इनके अभ्यास से अनेक क्रोधी और व्यसनी व्यक्तियों ने अपने संवेगों से छुटकारा पाया है। अनेक मद्यपायी और अन्यान्य मादक द्रव्यों का सेवन करने वाले व्यक्ति अपनी आदतों को छोड़कर सुख से जीवन यापन कर रहे हैं। भय की समस्याओं से त्रस्त व्यक्ति इन प्रयोगों से भयमुक्त होकर आज अभय का जीवन जी रहे हैं।

जब संवेग परिष्कृत होते हैं तब नाड़ीतंत्र और ग्रन्थितंत्र का संतुलन बना रहता है। सामान्यतः हमारा यह विश्वास है कि संतुलित भोजन होता है तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवन अच्छा चलता है, शक्ति सही ढंग से काम करती है। यह गलत बात तो नहीं है, किन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि संतुलित भोजन होने पर भी यदि पाचनतंत्र संतुलित नहीं है तो भोजन अपना काम नहीं करेगा। जिसका पाचन ठीक नहीं, वह कितना ही अच्छा खाता है, सारा व्यर्थ चला जाता है। प्रश्न होता है कि पांचनतंत्र को ठीक करना पहली बात है या संतुलित भोजन करना पहली बात? पहली बात है पाचनतंत्र को स्वस्थ बनाना। दूसरी बात है संतुलित भोजन करना। एक प्रश्न है—क्या ग्रन्थितंत्र को स्वस्थ रखना पहली बात है या संतुलित भोजन करना पहली बात? पहली बात है ग्रन्थितंत्र को ठीक रखना। दूसरी बात है संतुलित भोजन करना। यदि ग्रन्थितंत्र संतुलित रहेगा, पैन्क्रियाज ठीक होगा तो चयापचय की क्रिया ठीक चलेगी, सारी क्रियाएं ठीक चलेंगी। यदि गोनाड्स अनुशासित और संतुलित है तो कामुकता नहीं सताएगी।

जब शान्तिकेन्द्र सक्रिय होता है तब मनोबल बढ़ता है। वह व्यक्ति हर बात को सहन कर लेता है। उसमें सहने की शक्ति विकसित होती है। अन्यथा सुरूप और सुन्दर दिखने वाले व्यक्ति भी सामान्य परिस्थिति के समक्ष घुटने टेक देते हैं। शरीर से शक्तिशाली होने पर भी उनका मन कमजोर होता है। मनोबल उसका बढ़ता है, जिसका ग्रंथितंत्र संतुलित होता है। महात्मा गांधी का शरीर हड्डियों का ढांचा मात्र था पर उनका मनोबल इतना मजबूत था कि ब्रिटिश सरकार की सत्ता हिल उठी। यातनाएं गांधी को विचलित नहीं कर सकीं। इसका कारण यह है कि जिसका ग्रन्थितंत्र शक्तिशाली होता है, वह व्यक्ति महान होता है, कुछ करने वाला होता है। मांस, हड्डियां, चमड़ी आदि का सीमित उपयोग है। व्यक्तित्व का निर्माण, अन्तःप्रज्ञा का निर्माण—इन सबका विकास होता है नाड़ीतंत्र और ग्रंथितंत्र की संतुलित अवस्था एवं निर्मलता के कारण। हमारा ध्यान इनकी ओर केन्द्रित होना चाहिए।

रंगों का प्रभाव

संवेग-परिष्कार का तीसरा प्रयोग है—रंगों का ध्यान। अनुप्रेक्षाओं के साथ अनेक रंगों का ध्यान किया जाता है। रंग संवेगों के परिष्कार में बहुत सहायक होते हैं।

एक विद्यार्थी अत्यन्त चंचल है। कहीं टिक नहीं पाता। उसे नीले रंग का ध्यान कराएं। एक सप्ताह के बाद उसमें परितर्वन आने लगेगा। रूस में इस विषय पर अनुसंधान और प्रयोग किए गए। एक विद्यालय के विद्यार्थी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बहुत उद्दण्ड और चंचल थे। अधिकारियों ने वैज्ञानिक दृष्टि से सब बातों पर ध्यान दिया। उन्होंने वैज्ञानिकों को आमंत्रित किया। वे आए। उन्होंने देखकर कहा—इस मकान की खिड़कियों, दरवाजों, कुर्सियों और फर्श पर बिछी कालीनों का रंग गहरा लाल है। यह लाल रंग विद्यार्थियों में उद्दण्डता, आवेश और चंचलता पैदा कर रहा है। इस समस्या का यही समाधान है कि लाल रंग को बदला जाए और उसके स्थान पर गुलाबी रंग कर दिया जाए। विद्यालय के अधिकारियों ने वैसा ही किया। खिड़कियों, दरवाजों आदि को गुलाबी रंग से रंग दिया। कुछ ही समय पश्चात् विद्यार्थियों में परिवर्तन आने लगा। उनकी उद्दण्डता और चंचलता कम हो गई।

नीले, पीले और गुलाबी रंग का ध्यान संवेगों पर प्रभाव डालता है, उनका परिष्कार करता है। एक आस्था उत्पन्न करने की आवश्यकता है। एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण के निर्माण की आवश्यकता है। हम इस बात को स्थूल दृष्टि से न पकड़ें कि गुलाबी रंग को देखने से क्या होगा? कैसे दिखेगा गुलाबी रंग? पर यह वैज्ञानिक दृष्टि से सोचें कि हम अपने संकल्प के द्वारा वैसा रंग पैदा कर सकते हैं। रंग के परमाणु चारों ओर बिखरे पड़े हैं। जहां प्रकाश है, सूर्य की रश्मियां हैं, वहां चारों ओर रंग ही रंग हैं। पेड़-पौधों में रंग कहां से आता है? अंधेरे में हमें कुछ भी दिखाई नहीं देता। सूर्य की रश्मियां आते ही रंग दिखने लग जाते हैं। रंग कहां से आए? रंग सर्वत्र हैं। पीनियल ग्लेण्ड प्रकाश-संश्लेषी है। वह रंगों को पकड़ता है। वह प्रकाश में अधिक काम करता है। वह प्रकाश को ग्रहण करता है अर्थात् रंग को ग्रहण करता है। उससे हम अत्यधिक प्रभावित होते हैं। लाल रंग के कमरे में एक सप्ताह तक रह कर देखें, सिर दर्द से पीड़ित हो जाएंगे। सफेद रंग में ऐसा नहीं होता। काले रंग में जटिलताएं और बढ़ जाती हैं। हमारे में रंगों को पकड़ने की शक्ति है, क्षमता है। रंग संवेगों को उद्दीप्त करते हैं और शान्त भी करते हैं। रंगों में उद्दीपक और शामक—दोनों शक्तियां हैं। संवेग परिष्कार में रंग की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

विधायक दृष्टिकोण

चौथा प्रयोग है—दृष्टिकोण का विधायक होना। निषेधात्मक दृष्टिकोण से संवेग उद्दीप्त होते हैं। हम विद्यार्थियों में इस प्रकृति को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करें कि उनमें रचनात्मक या विधेयात्मक दृष्टि का जागरण हो। उनकी निषेधक दृष्टि कमजोर हो और विधायक दृष्टि बलवान बने।

जो अभाव की ओर देखता है, वह निषेधात्मक भावों से भर जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसे कितना ही मिल जाए, उसका नेगेटिव एटीट्यूड कभी नहीं मिटेगा। जिसका एटीट्यूड पोजिटिव हो गया, भावात्मक हो गया, वह व्यक्ति बदल जाएगा। विधायक दृष्टिकोण के द्वारा संवेगों का संतुलन साधा जा सकता है। जब संवेग संतुलित होते हैं तब चरित्र का विकास होता है, जीवन का निर्माण होता है।

जिस जीवन और समाज की कल्पना की जा रही है, इक्कीसवीं शताब्दी के आदमी की कल्पना की जा रही है, वह आदमी शक्तिशाली तो होगा पर वह निराशा और निषेधात्मक भावों से घिरा रहेगा। अब प्रश्न यह है कि मूल आदमी को शक्तिशाली बनाना है या यंत्र-मनुष्य—रोबोट को शक्तिशाली बनाना है? यदि रोबोट शक्तिशाली बनेगा तो मनुष्य कमजोर ही बनेगा। आज बौद्धिक व्यक्ति को यह चिंतन करना है कि रोबोट भले ही बने पर मूल आदमी कमजोर न रहे। इस प्रश्न पर सबको चिंतन करना है। इस प्रक्रिया में संवेग नियंत्रण और संवेद परिष्कार की बात बहुत महत्त्वपूर्ण है।

सतत क्रिया : संवेद संवर्द्धन

मनुष्य सब प्राणियों में श्रेष्ठ प्राणी माना जाता है। उसकी श्रेष्ठता का कारण है उसका मस्तिष्क और मेरुदण्ड प्रणाली। यह उसकी अपनी विशेषता है। उस जैसा विकसित मस्तिष्क नाड़ी तंत्र और मेरुदण्ड प्रणाली अन्य किसी को प्राप्त नहीं है। यही कारण है कि वह प्रगति कर सकता है और सफलता के मार्ग पर आगे बढ़ सकता है। यदि आदमी मस्तिष्क की शक्ति का अपव्यय रोक देता है तो वह अपने जीवन में बहुत सफल हो सकता है। संवदेनाओं के कारण शक्ति का अपव्यय बहुत होता है। जब मस्तिष्क इन्द्रियों के साथ चलता है तब शक्तियां क्षीण होती हैं। आँखें खुली हैं, आदमी इधर-उधर देख रहा है। वह नहीं जानता कि मस्तिष्क को कितना काम करना पड़ता है। उससे शक्तियां क्षीण होती हैं। आज का शरीरशास्त्री और मानसशास्त्री जानता है कि आँख से देखने से तंत्र को कितना प्रयत्न करना पड़ता है। पूरा तंत्र सक्रिय हो जाता है। उसे शक्तियां जगानी पड़ती हैं। निरन्तर क्रियाशीलता शक्ति का अपव्यय करती है। आदमी निरन्तर सक्रिय रहता है। सामने कोई चीज आई, आदमी देखने लग जाता है। कुछ आवाज आई, वह सुनने लग जाता है। नाक, कान, आँख, जीभ और त्वचा—ये सारे इतने सक्रिय रहते हैं कि कभी विश्राम लेते ही नहीं। कभी एक संवेद आता है, कभी दूसरा। कभी कोई संवेद उभरता है, कभी कोई संवेद उभरता है, सक्रियता बनी रहती है। यह ध्रुव सिद्धान्त है कि जहां क्रिया है, वहां शक्ति का व्यय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जहां अक्रिया है वहां शक्ति का संरक्षण है। हम अतिक्रिया के कारण शक्ति का सही उपयोग नहीं कर पाते। जो अपनी शक्ति का आवश्यक कार्यों के लिए उपयोग करना चाहता है, आगे बढ़ना चाहता है, उसके लिए संवेदों पर नियंत्रण करना जरूरी है।

एक संन्यासी या तपस्वी के लिए संवेदन-नियंत्रण करना आवश्यक है। उसे इन्द्रिय संयम भी करना चाहिए। किन्तु न केवल संन्यासी को, जीवन में सफलता चाहने वाले सभी व्यक्तियों को, एक सीमा तक संवेदनाओं पर नियंत्रण करना चाहिए। जब इन्द्रिय-संवेदनाओं पर नियंत्रण नहीं होता तब बहुत सारे बुरे परिणाम आते हैं। जीभ की संवेदनाओं पर नियंत्रण न करने से अनेक बीमारियां होती हैं। लगभग पचास प्रतिशत बीमारियां जीभ की संवेदनाओं के कारण होती हैं। आयुर्वेदिक चिकित्सा-पद्धति में यह बात पहले से ही मान्य थी, आज एलोपैथिक चिकित्सा पद्धति में भी यह स्वीकृत हो गई है। हार्ट-ट्रबल या ऐसी अन्य बीमारी होने पर डॉक्टर सबसे पहले खाद्य पदार्थों पर प्रतिबंध लगाता है। वह कहता है—चिकनाई मत खाओ, घी मत खाओ, नशीली वस्तुओं का सेवन मत करो। बीमारी के साथ भोजन का गहरा संबंध है। भोजन का मानसिक शक्ति के साथ गहरा संबंध है।

दृष्टि का संवदेन है देखना। यह भी एक समझने की बात है कि कब देखना चाहिए? क्या देखना चाहिए? आँख के द्वारा पदार्थ के साथ हमारा सम्पर्क स्थापित होता है। हम केवल देखते ही नहीं, ग्रहण भी करते हैं। दृष्टि का संवदेन भावों को बहुत प्रभावित करता है। जो देखने योग्य नहीं है, उसे नहीं देखना चाहिए—यह भारतीय चिन्तन की परम्परा रही है। कहा है—दृष्टिपूतं न्यसेत् पादम्—आँखों से देखकर चलो। यदि आदमी आंखों से देखकर चलता है तो शक्तियां कम क्षीण होती हैं। यदि चलते समय कभी इधर और कभी उधर देखता है, दूर तक देखता है तो मस्तिष्क की बहुत शक्ति क्षीण होती है। देखने का नियम है कि सीधे देखो, दाएं-बाएं देखना उचित नहीं है।

जिस व्यक्ति का अपनी संवेदनाओं पर नियंत्रण होता है वह बहुत आगे बढ़ जाता है। जिसमें नियन्त्रण की पूरी क्षमता नहीं होती, एक सीमा तक होती है, वह मूल स्थिति में कायम रह जाता है। जो संवेदनाओं का दास बन जाता है वह अपने जीवन की दुर्गति कर बैठता है। उसका अधःपतन होता है। हम इस सचाई का अनुभव करें कि संवेदनाओं पर नियन्त्रण किए बिना जीवन में विकास नहीं किया जा सकता। यदि इस स्थिति का साक्षात्कार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना हो तो पश्चिम जगत की यात्रा करें। वहां एक नया दर्शन मिलेगा। इतना बौद्धिक विकास, वैज्ञानिक दृष्टि का विकास और धन तथा सुख-सुविधा की सामग्री होने पर भी, इन्द्रियों की उच्छृंखलता के कारण वहां स्थिति अत्यन्त दुःखद और पीड़ादायक है। अमेरिका जैसे राष्ट्र में अनेक नगरों की यह स्थिति है कि नागरिक सुबह घर से निकलता है और सायं यदि सकुशल लौट आता है तो वह उस दिन को लाख-लाख धन्यवाद देता है। पता नहीं, कब उसे गोली लग जाए। यह आवश्यक नहीं है कि झगड़ा होने पर गोली चले। कोई झगड़ा नहीं, कोई द्वेष नहीं, अकारण ही गोली चली और आदमी मर गया। ऐसा पागलपन आज छा गया है कि कोई भी, कभी भी, किसी की हत्या कर डालता है। यह पागलपन आता है संवेदनाओं के अनियन्त्रण से।

परिणाम का दर्शन

प्रश्न होता है कि संवेदनाओं पर नियंत्रण कैसे करें? आदमी संवेदनाओं के साथ चलता है, जीता है, ऐसी स्थिति में संवेदनाओं पर नियंत्रण करना सरल बात नहीं है। आज का बच्चा प्रारम्भ से ही इन्द्रिय-संवेदनाओं के साथ जीता है। विद्यार्थी स्कूल से निकलता है तो सीधा ध्यान जाता है सिनेमाघरों पर। घर आता है तो ध्यान जाता है टी. वी. पर। कभी क्रिकेट की कमेन्ट्री सुनता है और कभी फिल्मी गाने। उसका पूरा दिन इन्द्रिय की संवेदनाओं के सहारे बीतता है। धीरे-धीरे वह उसकी प्रकृति बन जाती है। वह परिणाम को नहीं जानता, विपाक को नहीं जानता। किंपाक का फल दीखने में सुन्दर होता है। उसका रंग-रूप मनोहारी होता है। पर उसको खाने का परिणाम है मृत्यु। इन्द्रिय-संवेदनाओं की भी यही स्थिति है। ये संवेदनाएं प्रवृत्ति-काल में सुखद लगती हैं, पर उनका परिणाम कटु होता है। कुछ कार्य ऐसे होते हैं जो प्रवृत्ति-काल में अच्छे लगते हैं, पर उनका परिणाम-काल दुःखद होता है। कुछ कार्य प्रवृत्ति-काल में बुरे होते हैं पर उनका परिणाम सुखद होता है। भारतीय दर्शन में वही प्रवृत्ति अच्छी मानी जाती है, जिसका परिणाम कल्याणकारी होता है।

इन्द्रिय-संवेदनाओं का परिणाम कभी अच्छा नहीं होता। बच्चा इस तथ्य को नहीं जानता, अतः माता-पिता और शिक्षक को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि उसे भान हो सके कि इन्द्रिय-संयम जीवन विकास के लिए आवश्यक है। बालक की अवस्था परानुशासन की अवस्था है, आत्मानुशासन की अवस्था नहीं है। बालक जब किशोर बन जाए तब उसे परिणाम-बोध देना अत्यन्त जरूरी है। संवेदनाओं पर नियंत्रण पाने का उपाय है—परिणाम-बोध।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बच्चों को विपाक का बोध कराना, प्रवृत्ति का परिणाम क्या होगा, इसकी अवगति देना बहुत जरूरी है। यह पहला उपाय है संवेद-नियंत्रण का।

दीर्घश्वास के प्रयोग

संवेद-नियंत्रण का दूसरा उपाय है—श्वास नियंत्रण। यही दीर्घश्वास की प्रक्रिया है। श्वास-नियंत्रण का अर्थ है—पूरा गहरा श्वास, दीर्घश्वास। यह एक विद्यार्थी के लिए बहुत जरूरी है, क्योंकि उसको मस्तिष्क के लिए ऑक्सीजन की बहुत अधिक आवश्यकता होती है। शिक्षा का संबंध है मस्तिष्क के साथ। पूरे शरीर को जितना ऑक्सीजन चाहिए उससे तिगुना ऑक्सीजन मस्तिष्क को चाहिए। उसकी पूर्ति दीर्घश्वास के द्वारा होती है। उस स्थिति में मस्तिष्क काफी सक्रिय हो जाएगा। उसकी क्षमता का विकास होगा। यदि ऑक्सीजन पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलेगा तो मस्तिष्क सुचारू रूप में काम नहीं कर पाएगा। विद्यार्थी में आलस्य और प्रमाद बढ़ेगा, उसका मन पढ़ाई में नहीं लगेगा, वह एकाग्र नहीं हो पाएगा, ज्ञान-ग्रहण की शक्ति क्षीण होने लगेगी। इसलिए विद्यार्थी के लिए दीर्घश्वास का प्रयोग बहुत लाभप्रद है। दीर्घश्वास भी लयबद्ध होना चाहिए। लयबद्ध श्वास के दो नियम हैं—

1. जितना समय श्वास लेने में लगे, उतना ही समय श्वास छोड़ने में लगे। प्रत्येक बार यही क्रम चले।
2. श्वास लेने में कम समय और श्वास छोड़ने में अधिक समय लगे। जैसे श्वास लेने में आठ मात्रा का समय लगता है तो छोड़ने में बारह मात्रा का समय लगना चाहिए, जिससे कि कार्बन पूरी मात्रा में निकल जाए। जब कार्बन पूरी मात्रा में निकल जाता है, तब न बेचैनी सताती है और न जम्हाई।

विज्ञान और अध्यात्म: निष्पत्ति एक है

बच्चा जब 13-14 वर्ष की अवस्था का होता है तब उसकी थाइमस और पिनियल—ये दोनों ग्रन्थियां निष्क्रिय हो जाती हैं। थाइमस ग्रन्थि के निष्क्रिय होने का परिणाम है—सहनशक्ति, चुस्ती, प्रसन्नता, आनन्द आदि का अभाव। पिनियल ग्रंथि जब निष्क्रिय हो जाती है तब नियन्त्रण की शक्ति कम हो जाती है। दीर्घश्वास के प्रयोग से बालक अनेक दोषों से बच जाता है। 13-14 वर्ष की अवस्था में यौन सक्रियता बढ़नी शुरू हो जाती है और पिनियल निष्क्रिय होती है, तब उसकी नियन्त्रण की शक्ति कम हो जाती है, बालक अनेक बुराइयों का शिकार हो जाता है। यह वैज्ञानिक दृष्टि की बात है। अब हम इस पर योगदृष्टि से विचार करें। कामवृत्ति का केन्द्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है—नाभि से गुदा तक का स्थान, उपस्थ का स्थान। यह अपान का स्थान है। जब अपान पर प्राण का नियन्त्रण रहता है तब वृत्तियां शांत रहती हैं। जब अपान पर प्राण का नियंत्रण कम हो जाता है तब अधोगामी वृत्तियां सक्रिय होने लगती हैं।

यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो यह स्पष्ट होता है कि विज्ञान की भी वही निष्पत्ति है और योग की भी वही निष्पत्ति है। दोनों की निष्पत्ति एक है। दीर्घश्वास से अपान पर नियंत्रण साधा जाता है। यदि विद्यार्थी को इसका सम्यग् अभ्यास करा दिया जाता है तो वह प्रारम्भ से ही बुरी आदतों में नहीं फंसेगा। वह बुराइयों से बच जाएगा।

एक प्रश्न आता है—बुरे विचार बहुत आते हैं, उन्हें रोकने का क्या कोई उपाय है? इसका सीधा-सा उपाय है—दस मिनिट तक दीर्घश्वास का प्रयोग। एक मिनिट में दो श्वास लें, समस्या हल हो जाएगी। जब-जब बुरे विचार, निम्न वृत्तियां, वासनाएं आक्रमण करती हैं तब-तब दीर्घश्वास का प्रयोग कर इनको रोका जा सकता है।

संवेदन-नियंत्रण का एक उपाय है—प्राणकेन्द्र पर ध्यान करना, यानी नासाग्र पर ध्यान करना। नाक का वासनाओं के साथ गहरा संबंध है। कान और नाक का विकारों के साथ संबंध है। मस्तिष्क का एक भाग है—एनिमल ब्रेन। इसी के कारण मनुष्य में पाशविक वृत्तियां उभरती हैं। उसका सम्बन्ध नाक और इन्द्रियों के साथ है। प्राचीन आचार्यों ने इसका अनुभव किया और इस पर विजय पाने के लिए उन्होंने नासाग्र पर ध्यान करने की बात कही। भगवान महावीर की ध्यानमुद्रा में दोनों आँखें नाक पर टिकी देखी जाती हैं।

हम किसी भी दृष्टि से सोचें—बौद्धिक विकास के लिए या भावनात्मक विकास के लिए, जीवन की सफलता के लिए या सह-अस्तित्व की सफलता के लिए हमें संवेदों पर नियंत्रण करना होगा। यह एक उपाय है। अनुपाय कुछ भी नहीं। जिसके पास उपाय नहीं है, वह हजार प्रयत्न करने पर भी सफल नहीं हो सकता। जिसके पास उपाय है, वह थोड़े समय में ही सफलता की मंजिल तक पहुंच जाता है। इसलिए उपाय को खोजें, अपनाएं और मंजिल तक पहुंचें। संवेदों पर नियंत्रण पाने का मार्ग सबके लिए कल्याणकारी है। यदि विद्यार्थी को उपाय और परिणाम-बोध से परिचित करा दिया जाए तो न केवल विद्यार्थी जीवन अच्छा होगा, सामाजिक जीवन भी अच्छा होगा। इस प्रकार हम नई समाज-व्यवस्था में विद्यार्थी को एक घटक के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं, नया मार्ग और नई दिशा उसके सामने रख सकते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वस्थ समाज रचना

महावीर ने कहा—तुला का अन्वेषण करो। प्रश्न होता है—तुला क्या है? उसका निरीक्षण-अन्वेषण कैसे करें? आचारांग का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—

जे अज्झत्थं जाणइ से बहिया जाणइ।
जे बहिया जाणइ से अज्झत्थं जाणइ।।

जो अपने आपको जानता है, वह दूसरों को जानता है। जो दूसरे को जानता है, वह अपने आपको जानता है।

कल्पना करें—दो जीव हैं। एक व्यक्ति स्वयं है और एक दूसरा आदमी है। व्यक्ति पहले अपने आपको देखे। वह सोचे—मुझे किसी ने गाली दी तो मुझ पर क्या प्रतिक्रिया हुई? मेरा मन कैसा बना? मेरे मन में क्या भावना आई? वह उसका निरीक्षण करे। उसी व्यक्ति ने सामने खड़े व्यक्ति को गाली दी। वह देखे—उस व्यक्ति के भीतर क्या प्रतिक्रिया हो रही है? जो अपने भीतर प्रतिक्रिया हुई क्या वैसी ही दूसरे के भीतर प्रतिक्रिया हुई? या अन्य प्रकार की प्रतिक्रिया हुई? व्यक्ति सामने वाले व्यक्ति की प्रतिक्रिया को पढ़े और उसके सन्दर्भ में पुनः अपने आपको देखे, देखता चला जाए।

गर्मी के मौसम में एक व्यक्ति ठण्डी हवा के झोंकों के बीच बैठा है। ठण्डी हवा से उस व्यक्ति को सुख मिला। तुम्हें कैसा लगा? सामने वाले को ठण्डी-ठण्डी हवा लगी तो उसे कैसा लगा? तुम्हें गर्म हवा लगी तो तुम्हें कैसा लगा? और उसे गर्म हवा लगी तो उसे कैसा लगा? हम इस नियम को आगे बढ़ाएं। कल्पना करें—बहुत गर्मी का मौसम है। एक ही कमरा है और उसमें एक ही दरवाजा है। एक व्यक्ति उस दरवाजे में जाकर बैठ गया। उसे वहां बैठना कैसा लगेगा? तुम्हें कैसा लगेगा?

तुम इस नियम को पढ़ो, इस घटना का निरीक्षण करो। इसका अर्थ है—अपने एवं सामने वाले व्यक्ति के सुख-दुःख के संवेदन को पढ़ना। तुम पढ़ो, निरीक्षण करो, पढ़ते चले जाओ, निरीक्षण करते चले जाओ। पढ़ते-पढ़ते, निरीक्षण करते-करते एक क्षण वह आएगा, जब तुम आत्म-तुला को साक्षात कर लोगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्म-तुला का सिद्धान्त

महावीर को एक दिन में ही यह पता नहीं चला—जैसे मुझे सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है वैसे ही सामने वाले प्राणी को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय होता है। सतत निरीक्षण और अन्वेषण से महावीर ने इस नियम का पता लगाया और आत्म-तुला के सिद्धान्त की स्थापना हो गई। महावीर ने कहा—'ऐसे ऐसे भी लोग हैं जो कहते हैं—हमें दूसरों से क्या? हमें अपना देखना है। हम किस-किसकी चिन्ता करेंगे?' वे दूसरों की चिन्ता नहीं करते; नौकरों, कर्मचारियों और शूद्रों की चिन्ता नहीं करते; पशु-पक्षी और सामान्य प्राणियों की चिन्ता नहीं करते। मध्यकाल में स्त्रियों के लिए तो ऐसे कड़े नियम बना दिए गए, जिनमें क्रूरता ही क्रूरता झलकती है। कारण यही रहा—आत्म-तुला के इस नियम को समझा नहीं गया।

भगवान महावीर ने इस सिद्धान्त को उदाहरण की भाषा में समझाया—पचास आदमी बैठे हैं। एक सिगड़ी में अंगारे जल रहे हैं। मुखिया व्यक्ति ने एक व्यक्ति से कहा—अंगार-पात्र उठाकर अमुक व्यक्ति के हाथ में रख दो। वह व्यक्ति संडासी से अंगार-पात्र उठाकर दूसरे व्यक्ति के हाथ में रखेगा। वह सोचता है—यदि मैं अपने हाथ से अंगार-पात्र उठाऊंगा तो मेरा हाथ जल जाएगा; किन्तु वह यह नहीं सोचता—हाथ से अंगार-पात्र उठाने से मेरा हाथ जलता है तो अंगार-पात्र उठाकर दूसरे के हाथ में रखूंगा तो उसका भी हाथ जल सकता है। उसका हाथ भी मेरे जैसा ही है। जिस व्यक्ति में ऐसा चिन्तन जागता है वह दूसरे के हाथ पर अंगार-पात्र नहीं रख पाएगा। स्वयं संडासी से अंगार-पात्र उठाए और दूसरा उसे हाथ में ले, यह न्याय या आत्म-तुला की बात नहीं है, पक्षपात और विषमता की बात है।

आदमी अपने लिए सुख चाहता है पर दूसरे की कठिनाई को नहीं समझता। वह इस नियम को नहीं जानता—मुझ पर कुछ होता है तो क्या बीतती है? सामने वाले व्यक्ति पर वैसा ही बीतता होगा। हम सामने वाले प्राणी के विषय में सोचें। चाहे वह मनुष्य है, गाय है, घोड़ा है, कुत्ता है, वनस्पति या मिट्टी है। हम इस बात पर ध्यान दें—यदि मैं इस स्थान पर होता तो मुझ पर क्या बीतती? यदि यह नियम समझ में आ जाए, आत्मसात् हो जाए तो आदमी का सारा व्यवहार बदल जाए।

यह आत्म-तुला का सिद्धान्त हमारे समूचे व्यवहार के परिवर्तन का सिद्धान्त है। जो अपने अध्यात्म के नियम को जानता है, वह बाहर के नियम को जानता है और जो बाहर के नियम को जानता है, वह अपने अध्यात्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के नियम को जानता है। बाहर या भीतर, अपना या पराया—दोनों के लिए नियम समान हैं, इस बात को जानें तो व्यवहार बदल जाएगा।

वर्तमान समस्या यह है—व्यक्ति की दृष्टि में अपने एवं अपने परिवार के लिए नियम दूसरा होता है और दूसरे लोगों के लिए नियम कोई दूसरा होता है। आज जितना मिलावट का धन्धा चलता है, वह दूसरों के लिए है। अपने लोगों के लिए नहीं है। इसका कारण है—व्यक्ति आत्म-तुला के सिद्धान्त को नहीं जानता। इस तुला का अन्वेषण नहीं करता।

बहुत कठिन है निरीक्षण करना, अन्वेषण करना। आदमी शार्टकट से जाना चाहता है। आज राजपथ इतने संकरे हो गये हैं कि उसे पगडंडी का चुनाव करना पड़ रहा है। इससे समस्या पैदा हो गई और आत्म-तुला का सिद्धान्त जटिल बन गया। दूसरों की बात छोड़ दें, धार्मिक लोग भी इस सिद्धान्त का प्रयोग नहीं करते। अगर धार्मिक लोग इस तुला का प्रयोग करते तो आज मानवीय सम्बन्धों में परिवर्तन आ जाता।

आज की सबसे बड़ी समस्या है मानवीय सम्बन्धों में तनाव और संघर्ष। पुरानी पीढ़ी के लोग अनपढ़ थे, सहन करना जानते थे किन्तु आज लोगों की समझ बहुत बढ़ी है इसलिए उनमें संवदेनशीलता भी बढ़ी है। संवदेनशीलता के कारण आपसी संबंधों में तनाव और संघर्ष के स्फुलिंग उछलते रहते हैं।

भगवान महावीर ने आत्म-तुला के सिद्धान्त का व्यवहार के संदर्भ में प्रतिपादन किया। जैन श्रावक की आचार-संहिता आत्म-तुला के सिद्धान्त का व्यावहारिक रूप है। श्रावक की आचार-संहिता का एक नियम है—मैं अपने आश्रित प्राणी की आजीविका का विच्छेद नहीं करूंगा। चाहे वह नौकर है, कर्मचारी है या पशु है। जो आश्रित है, वह उसकी आजीविका का विच्छेद नहीं कर सकता।

आज शोषण की समस्या गम्भीर है। यह स्वर उभर रहा है—शोषण नहीं होना चाहिए, श्रम का उचित मूल्य मिलना चाहिए। यदि हम अतीत को पढ़ें तो हमारा निष्कर्ष होगा—शोषण का विरोध सबसे पहले भगवान महावीर ने किया। महावीर ने कहा, किसी के भक्तपान का विच्छेद मत करो। जो व्यक्ति जिसे पाने का हकदार है, उसे तुम मत छीनो। वह श्रम करता है और तुम उसका हक छीन लेते हो, यह न्याय नहीं है। शोषण के परिहार का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है आत्म-तुला का सिद्धान्त। किसी की आजीविका मत छीनो, किसी का शोषण मत करो। यदि इस सिद्धान्त पर अमल होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो हड़तालें नहीं होतीं, मिलें बंद नहीं होतीं। अहिंसा के माध्यम से मानवीय चेतना को जगाने का जितना काम महावीर ने किया, उतना किसी ने किया या नहीं, यह आज भी अनुसंधान का विषय है। आचारांग सूत्र में अहिंसक समाज-रचना के सूत्र भरे पड़े हैं। क्रांति ग्रन्थ है आचारांग। उसका एक सूत्र है—आदमी तराजू के पल्ले में अपने को बिठाए, दूसरे पल्ले में सामने वाले प्राणी को बिठाए और दोनों को समदृष्टि से तोले, आत्म-तुला का अन्वेषण करे। महावीर के शब्दों में यही सच्ची खोज और अन्वेषणा है।

समाज-रचना के आधार

अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह—ये तीन समाज-रचना के आधार हैं और ये तीन सामाजिक मूल्य हैं। अहिंसा के बिना समाज बनता नहीं। सत्य के बिना भी समाज नहीं बनता और अपरिग्रह के बिना भी समाज नहीं बनता।

पहला आधार है—अहिंसा। अहिंसा का पहला तत्त्व है—भावना का परिवर्तन। हिंसा के अनेक कारण हैं। उनमें एक बड़ा कारण है—भावना, एक प्रकार की धारणा का न्यास। आदमी आदमी को आदमी नहीं मान रहा है—यह एक भावना है। जब तक इस भावना का परिवर्तन नहीं होता तब तक सामाजिक मूल्यों का विकास नहीं हो सकता।

अध्यात्म के आचार्यों ने इस भावना-परिवर्तन के लिए कुछ शब्द दिए—आत्मौपम्य, आत्म-तुला, सब जीव समान। ये शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण और गंभीर अर्थ की सूचना देने वाले हैं। इस भावना के अभाव में जातीय विद्वेष पनपा, सांप्रदायिक विद्वेष पनपा और राज्य का सीमागत विद्वेष पनपा। यदि यह भावना विकसित होती कि सब जीव समान हैं, मेरी आत्मा के जैसी ही है दूसरे की आत्मा, जैसी सुख-दुःख की अनुभूति मुझे होती है, वैसी ही सामने वाले व्यक्ति को होती है तो यह जातीय और साम्प्रदायिक आक्रोश-विद्वेष कभी नहीं पनप पाता।

वर्तमान स्थिति क्या है? एक काला आदमी है और दूसरा गोरा आदमी है। आदमी आदमी है, केवल चमड़ी के रंग का अन्तर है। किन्तु गोरा आदमी अपने आपको श्रेष्ठ मान रहा है और काले आदमी को नीच मान रहा है। एक सवर्ण है, दूसरा असवर्ण है। सवर्ण अपने आपको श्रेष्ठ मान रहा है और असवर्ण को नीच मान रहा है। यह रंग के आधार पर विद्वेष, धारणाओं के आधार पर विद्वेष है। एक नाजी यहूदी को हीन मानता है और यहूदी नाजी को पागल कुत्ता जैसा मानता है। यह जातिगत विद्वेष है। विचारधारा के आधार पर भी यह विद्वेष पनपता है। एक सम्प्रदाय वाला दूसरे सम्प्रदाय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाले को हीन मान रहा है और अपने आपको उच्च प्रमाणित कर रहा है। ये सारे विद्वेष इस आधार पर पनपे हैं कि अहिंसा का जो सूत्र था मानव जाति की एकता का, उसे भुला दिया गया।

मनुष्य जाति एक है—इस मूल्य की प्रतिष्ठा हमारी अनेक समस्याओं का एक समाधान है। कुछ लोगों ने इस दिशा में प्रयत्न किए। इनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय प्रयत्न है महात्मा गांधी का। उन्होंने इन सारे विद्वेषों को मिटाने के लिए अनेक प्रयत्न किए और अहिंसा के प्रति आस्था उत्पन्न करने के का अथक प्रयास किया। किन्तु इतिहास इस बात का साक्षी है, घटनाएं स्वयं प्रमाण हैं कि वह प्रयत्न एक सीमा तक सफल हुआ, किन्तु व्यापक स्तर पर सफल नहीं हो सका। इसका कारण यही है कि जो प्रयत्न हुआ, वह बड़े लोगों में हुआ। जिनकी अवस्था पक गई, विचार परिपक्व बन गए, धारणाएं पक गईं, उन लोगों में प्रयत्न हुआ। जब तक एक प्रभावशाली वातावरण रहा, परिस्थिति रही, तब तक लगा कि हिन्दुस्तानी मानस अहिंसा के निकट जा रहा है, किन्तु जैसे ही वह साया उठा, वह प्रभावी व्यक्तित्व सामने नहीं रहा और हिंसा देखते-देखते उग्र बन गई। जैसे ही हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का विभाजन हुआ, हिंसा ने क्या रूप लिया? कितनी उग्रता सामने आई? इस घटना से एक निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हिंसा की शक्ति भी कमजोर नहीं है। अहिंसा को अगर हम शक्तिशाली मानें तो हिंसा की शक्ति भी कम नहीं है। घटनाओं के आधार पर, इतिहास के साक्ष्यों के आधार पर तो यह कहा जा सकता है कि समय-समय पर हिंसा ने जितना अपना रौद्र रूप दिखाया है, अहिंसा उतना सौम्य रूप नहीं दिखा पाई है। तो फिर हम पराजय स्वीकार कर लें कि समाज के लिए अहिंसा का कोई स्थायी या शाश्वत मूल्य नहीं है और हम हिंसा का वरण इसलिए करें कि हिंसा का मूल्य समाज के लिए ज्यादा कारगर है। किन्तु यह भी स्वीकार नहीं किया जा रहा है। जहां-जहां हिंसा की समस्या उग्र बनती है, वहां तत्काल ध्यान अहिंसा की ओर जाता है। जहां विवाद उग्र होता है, वहां तत्काल ध्यान समझौते की ओर जाता है। सब कहते हैं कि हिंसा समाप्त होनी चाहिए, विवादों का अन्त आना चाहिए। पंजाब की समस्या उग्र बनी। पूरे राष्ट्र का ध्यान केन्द्रित हो गया कि आतंकवाद समाप्त होना चाहिए, हिंसा की उग्रता अब नहीं चलनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि आदमी हिंसा चाहता नहीं, करता है। चाहता है अहिंसा एवं शान्ति किन्तु उन्माद आता है और उन्माद में वह हिंसा कर डालता है, शान्ति भंग हो जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दो स्थितियां हैं। एक है उन्माद की स्थिति और दूसरी है शान्त स्थिति। शान्त स्थिति में आदमी अहिंसक मूल्य को महत्त्व देता है किन्तु उन्माद जब आता है, उस स्थिति में वह हिंसा कर लेता है।

अहिंसा के संस्कार

हिंसा स्वाभाविक या नैसर्गिक मांग नहीं है। वह एक अस्वाभाविक परिस्थिति है। हम कुछ कारणों से प्रभावित होकर उस दिशा में चले जाते हैं। यह बात समझ में आनी चाहिए कि समाज का मूल्य अहिंसा ही हो सकता है और इसी आधार पर समाज बना है।

आज आदमी इस बात को भूल-सा गया है। इस स्थिति में उपाय की बात सोचनी चाहिए कि किस उपाय में अहिंसा के मूल्य को पुनः प्रस्थापित करें? इस पर जब चिंतन करते हैं तो ऐसा लगता है कि एक और प्रयोग किया जाए। वह प्रयोग यह हो कि बचपन से ही अहिंसा की आस्था उत्पन्न की जाए। जब हिंसा की आस्था उत्पन्न हो जाती है, यह धारणा बन जाती है कि हिंसा के बिना काम नहीं चलता, फिर उसे बदलना बहुत जटिल हो जाता है। बचपन के संस्कार इतने प्रभावी होते हैं कि बाद में आने वाले संस्कार उनके सामने टिक नहीं पाते। एक प्रयोग करने की जरूरत है और वह प्रयोग होगा—बचपन से अहिंसा की आस्था का निर्माण।

जीवन विज्ञान की प्रकल्पना इसी चिंतन का एक परिणाम है। जिन सामाजिक मूल्यों को हम समाज में देखना चाहते हैं, विकसित करना चाहते हैं, उन सामाजिक मूल्यों को बचपन से प्रतिफलित करना चाहिए, उनके प्रति आस्था पैदा करनी चाहिए।

अहिंसा की आस्था

आज सबसे बड़ा संकट है आस्था का। श्रद्धा इतनी विचलित है कि आदमी कहीं भी टिक नहीं पा रहा है। एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा और तीसरे के बाद चौथा कदम आगे बढ़ रहा है। कहीं पैर जमाकर खड़ा होकर आदमी कुछ करना नहीं चाहता। एक आदमी के मन में बचपन से ही साधना की बात आई और साधना करने लगा। किन्तु चंचलता इतनी कि किसी भी बात पर जमा नहीं। आज एक पद्धति को अपनाया तो तीसरे दिन दूसरी पद्धति को और सातवें दिन तीसरी पद्धति को। बदलता गया, बदलता गया। आज यह स्थिति है कि वह जहां था, लगभग वहीं है, बहुत आगे सरक नहीं पाया। कहीं न कहीं आदमी को अपना पैर जमाकर खड़ा होना होता है और जब तक वह बिन्दु प्राप्त नहीं होता, कहीं भी हम कुछ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर नहीं पाते। हमें आस्था को दृढ़ बनाना है और उसके लिए भावना का परिवर्तन आवश्यक है। शिक्षा के साथ इस संस्कार को पुष्ट किया जाए कि सब जीव समान हैं। सब जीव समान हैं—यह बात भी एक अमूर्त बन जाती है। मूर्त बात, सगुण भाषा ज्यादा प्रभावशाली बनती है। अमूर्त बात कभी-कभी कमजोर बन जाती है। इस आधार पर एक सिद्धान्त विकसित किया गया कि सब जीवों की बात हम छोड़ दें पर कम से कम जो हमारे सामने हैं, हमारे जैसे हैं, उनके प्रति तो यह भाव विकसित करें कि मानव जाति एक है। दूसरा मनुष्य वैसा ही है जैसा मैं हूं और जैसा मैं हूं, वैसा ही दूसरा मनुष्य है। इतनी आस्था उत्पन्न हो जाए तो मानवीय व्यवहार बदल जाए और यह बचपन में ज्यादा संभव है, क्योंकि इस अवस्था तक दूसरे संस्कार हावी नहीं होते, प्रभावी नहीं बनते।

जैसा प्रारंभिक पाठ मिलेगा, विद्यार्थी उसे जल्दी पकड़ेगा। समाजशास्त्र के अनुसार जिन मालिकों और दासों में मानवीय स्तर पर चिन्तन हुआ और संबंध स्थापित हुए, उनका व्यवहार बदल गया। एक बड़ी क्रूर कहानी रही है इतिहास की। मालिकों ने अपने दासों पर इतने क्रूर अत्याचार किए हैं कि उनको मानव नहीं माना जा सकता। मालिक मानो मनुष्य हो और दास जैसे उसका पशु हो। पशु के प्रति भी उतने अत्याचार या क्रूर व्यवहार नहीं किए जाते किन्तु मनुष्य के प्रति किए गए हैं और इतिहास की हजारों-हजारों घटनाएं इस तथ्य की साक्षी हैं।

आज भी देखते हैं तो बड़ा आश्चर्य होता है। आदमी कुछ अर्थों में आदमी से ज्यादा पशु को मूल्य देता है। क्योंकि उसकी उपयोगिता मानता है। वहां उसका अपना स्वार्थ है। एक घोड़ा सुविधा के साथ रहता है। उसका स्थान है वातानुकूलित गृह। उसकी सेवा में पाँच-पाँच, दस-दस नौकर हैं। घोड़े पर जितना खर्च हो रहा है उतना उसके परिचालकों पर नहीं हो रहा है, क्योंकि घोड़ा ज्यादा उपयोगी है। एक रेस का घोड़ा लाखों रुपये और लाखों डालर पैदा कर देता है, जबकि आदमी इसका एक तुच्छ अंश भी लाभ नहीं देता। आदमी की सारी दृष्टि उपयोगिता पर, स्वार्थ पर और लाभांश पर टिकी हुई है, मानवीय स्तर पर टिकी हुई नहीं है।

मानवीय व्यवहार के लिए सबसे प्रथम बात है कि मनुष्य जाति की एकता में आस्था उत्पन्न हो। ऐसा होने पर क्रूर व्यवहार करना कठिन हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रेम और मैत्री का विकास

अहिंसा का दूसरा सूत्र है प्रेम या मैत्री का विकास। हिंसा का मूल है घृणा। जब तक घृणा पैदा नहीं होती, आदमी हिंसा कर नहीं सकता। लड़ना होता है, युद्ध करना होता है तो सामने वाले के प्रति घृणा पैदा की जाती है। यदि यहूदी जाति के प्रति घृणा पैदा नहीं की जाती तो लाखों यहूदियों को बिना मौत नहीं मारा जाता। पहले घृणा पैदा की जाती है फिर हिंसा की जाती है। आज भी जितना आतंकवाद का प्रशिक्षण मिलता है, घृणा को उद्दीप्त करने वाला मिलता है। प्रशिक्षण में सामने वाली जाति के प्रति इतनी घृणा भर दी जाती है कि फिर उसे मारने में कोई संकोच नहीं होता। घृणा हिंसा का बहुत बड़ा कारण है। उसे बदलना और उसके स्थान पर प्रेम उत्पन्न करना अत्यन्त आवश्यक है। प्रेम उत्पन्न होने पर फिर कोई किसी को सता नहीं सकता।

एक चोर या डाकू अपनी पत्नी के गहने नहीं चुराता, घर वालों को कभी नहीं लूटता। मिलावट करने वाला व्यापारी अपनी पत्नी को, अपने बच्चों को खराब चीज खिलाना नहीं चाहता। वह दूसरों को मिलावटी माल बेचता है और स्वयं शुद्ध लेना चाहता है। कारण स्पष्ट है कि उसका परिवार के प्रति प्रेम है। जहां प्रेम है वहां क्रूर व्यवहार हो नहीं सकता। यदि चोर या डाकू क्रूर ही होते तो उनका परिवार बनता ही नहीं, किन्तु वे अपने परिवार के प्रति बड़े दयालु, बड़े प्रेमालु होते हैं।

प्रेम की बहुत अधिक महिमा गाई हमारे सन्तों ने। कबीर ने यहां तक लिखा—

पोथी पढ़ पढ़ जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय।।

आज समस्या यही है कि शिक्षा के साथ संवेदनशीलता, प्रेम, मैत्री या करुणा के विकास की बात जुड़ी हुई नहीं है। केवल शिक्षा या पढ़ाई से ही यह बात आने वाली भी नहीं है। प्रेम के जो केन्द्र हैं शरीर में, जब तक उनको नहीं छुआ जाता, करुणा के केन्द्रों को नहीं छुआ जाता, तब तक वे विकसित नहीं होते। घृणा के केन्द्र भी हमारे मस्तिष्क में हैं। दोनों विद्यमान हैं। जिसको बल मिलेगा, वह पुष्ट हो जाएगा। जिसको बल नहीं मिलेगा, वह कमजोर हो जाएगा।

दो लड़के हैं। जिस लड़के को प्यार मिलेगा, वह अच्छा बन जाएगा और जिसको तिरस्कार मिलेगा, वह सूख जाएगा। जिस पौधे को प्यार मिलेगा,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह पल्लवित हो जाएगा। जिसे प्यार नहीं मिलेगा, पानी नहीं मिलेगा, वह पौधा सूख जाएगा।

स्मृति पर खोज करने वाले वैज्ञानिक बताते हैं कि हमारी स्मृति के रसायन बड़े अद्भुत हैं। एक रसायन को आप हजार बार बल दें वह पुष्ट हो जाएगा और यह बात 20-30 वर्ष तक बराबर आपकी स्मृति में बनी रहेगी। यदि उसको बल नहीं मिलेगा तो वह रसायन कमजोर पड़ता चला जाएगा और विस्मृति की मात्रा बढ़ती चली जाएगी।

प्रश्न है आवृत्ति का, प्रश्न है पल्लवन का और प्रश्न है उसे पोषण मिलने का। हम उन केन्द्रों को यदि पल्लवित करते हैं, उनको छूते हैं तो अवश्य ही घृणा की भावना कम होती है और प्रेम का विकास होता है।

प्रेक्षाध्यान का एक प्रयोग है—ज्योति-केन्द्र प्रेक्षा। यदि ज्योति-केन्द्र पर हम ध्यान करेंगे, बार-बार उसका अनुभव करेंगे तो प्रेम, मैत्री और संवेदनशीलता की भावना बढ़ेगी। यदि हमारा ध्यान ज्यादा पेट की ओर जाएगा, नाभि के आस-पास परिक्रमा करेगा तो क्रूरता की भावना, उद्दण्डता की भावना और घृणा की भावना को बल मिलता रहेगा। इसलिए हम किसको छुएं, किसको अनछुआ रखें, यह जानना बहुत आवश्यक है।

आचार्य भिक्षु ने बहुत महत्त्वपूर्ण बात लिखी है। उन्होंने कहा—एक व्यक्ति ने दो बीज बोए, एक आम का और दूसरा धतूरे का। दोनों पास-पास में थे। उसने अपने लड़के को कहा कि पौधों को सींचना है। लड़का भोला था, नासमझ था। वह धतूरे के बीज पर बहुत पानी डालता, उसकी रखवाली करता, खूब सार-संभाल करता किन्तु आम के पौधे को न पूरा पानी देता, न रखवाली करता, पूरा ध्यान भी नहीं देता। परिणाम यह हुआ कि आम का पौधा मुरझा गया और धतूरे का पौधा चमक उठा।

प्रश्न है—हम धतूरे के पौधे को ज्यादा पानी दे रहे हैं या आम के पौधे को? हम किसकी ज्यादा सार-संभाल कर रहे हैं? जिस पर अधिक ध्यान देंगे, वह ज्यादा विकसित होगा और जिस पर कम ध्यान देंगे, वह सिकुड़ जाएगा।

आस्था का निर्माण किया जाए

हमारा ध्यान आज कहां है? ध्यान प्रेम के पौधे पर है या घृणा के पौधे पर? हम पानी कहां सींच रहे हैं? हमारे लिए यह बहुत ज्वलंत प्रश्न है। पानी तो सींच रहे हैं घृणा के पौधे पर और हम चाहते हैं कि अमन से रहें, शान्ति से रहें, कहीं आतंक न हो, कहीं हिंसा न हो, लूट-खसोट न हो, अपराध न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो। हमारी कल्पना तो चलती है राम-राज्य की और कार्य चलता है रावण-राज्य का। संगति कैसे हो? इन विसंगतियों में जीते हुए हम मूल्यों का विकास नहीं कर सकते। यदि सचमुच हमारी आस्था है मूल्यों का विकास करना, सामाजिक मूल्यों को प्रतिष्ठित करना तो हमें पानी वहीं सींचना होगा जिससे मूल्यों का विकास संभव बन सके।

आज हिंसा के पीछे जितनी मानवीय शक्ति खर्च हो रही है, उसका एक प्रतिशत भाग भी अहिंसा के पीछे खर्च नहीं हो रहा है। बड़े आश्चर्य की बात है। हमारी दुहाई है अहिंसा की और सारी शक्ति का नियोजन हो रहा है हिंसा के पीछे। क्या यह विरोधाभास नहीं है? हर आदमी शान्ति से रहना चाहता है और उसकी सारी प्रवृत्तियां अशान्ति को सिंचन दे रही हैं। क्या यह विरोधाभास नहीं है? यह सब क्यों हो रहा है? इसलिए कि बचपन से ही संस्कार दूसरे प्रकार के बने हुए हैं।

जब संस्कार रूढ़ हो जाते हैं, अर्जित आदतें रूढ़ बन जाती हैं तब उन्हें तोड़ना हर किसी के बस की बात नहीं होती। कुछ व्यक्ति अपवाद हो सकते हैं कि जो बड़ी अवस्था में भी आमूलचूल बदल सकते हैं, अपनी आदतों को बदल देते हैं, अपने संस्कारों में भी परिवर्तन ला देते हैं। किन्तु यह एक विशेष घटना है। जबकि संभावना यह है कि छोटी अवस्था में अभिलषित आदत का निर्माण किया जा सकता है, वह बहुत संभव है। इसलिए शिक्षा के साथ इसकी बहुत संगति बैठती है कि प्रारम्भ काल से ही बच्चों में वैसी आस्थाओं का निर्माण किया जाए, जिनकी अपेक्षा समाज रखता है और जिन्हें हम सामाजिक मूल्य के रूप में विकसित करना चाहते हैं।

जीवन की दो पद्धतियां

जीवन की दो पद्धितियां हैं—वैयक्तिक जीवन पद्धति और सामाजिक जीवन पद्धति। दोनों साथ-साथ चलती हैं। कोई भी व्यक्ति सोलह आना सामाजिक नहीं होता और कोई भी व्यक्ति सोलह आना वैयक्तिक नहीं होता। प्रधानता की अपेक्षा से वैयक्तिक प्रणाली और सामाजिक प्रणाली—ये दो विभाग हैं। अधिकांश लोग सामाजिक जीवन जीते हैं। साधना की पद्धति भी सामाजिक बनी हुई है। कुछ लोग वैयक्तिक साधना करते हैं। कहीं दूर-दराज की गुफाओं में, कंदराओं में चले जाते हैं। वहां जो कुछ मिलता है, उससे जीवन चला लेते हैं और वहीं एकांत में रहते हैं। वैसे लोग बहुत कम होते हैं। सत्य की प्रबल जिज्ञासा सब लोगों में नहीं जागती। वैज्ञानिक लोग सत्य की खोज में लगे हुए हैं तो अध्यात्म के साधक भी सत्य की खोज

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में लगे हुए थे और हैं।

वैज्ञानिक आदमी भी पूरा सामाजिक जीवन नहीं जीता। उसकी दुनिया समाज से हटकर कुछ अलग-सी हो जाती है। वैयक्तिक जीवन भी पूरा नहीं होता। उसे अपना भी भान नहीं रहता। जब सत्य की खोज में गहरी निष्ठा जागती है तब शरीर और शरीर को पोषण देने वाला भोजन भी गौण हो जाता है। उसे पता ही नहीं चलता कि खाया या नहीं खाया। बात अटपटी-सी लगती है, विश्वास करना भी कठिन होता है। किन्तु जब चेतना किसी दूसरी दिशा में प्रस्थित होती है और उसकी गहराई में जाती है तो यह बात भी संभव हो जाती है कि भोजन का भी पता न चले और नींद का भी पता न चले।

सत्य का शोधक अध्यात्म के क्षेत्र में यात्रा करता है, वह इतना कम खाता है कि दूसरे लोग सोचते हैं, यह तो शरीर को सता रहा है, किन्तु उसकी खाने के प्रति जो एक आकांक्षा होती है, वह कम हो जाती है। वहां मात्र जीवन-यात्रा का निर्वाह बचता है। सब लोग जीवन-यात्रा को चलाने के लिए नहीं खाते, दूसरे उद्देश्य से खाते हैं, आकांक्षा से खाते हैं। सत्य-शोधक की आकांक्षा समाप्त हो जाती है। आकांक्षा से खाने वाले को एक बड़ी मात्रा की जरूरत होती है। आकांक्षा को छोड़कर खाने वाले को बहुत थोड़ी मात्रा की जरूरत होती है। पोषण थोड़ी मात्रा से भी हो सकता है। हम जितना खाते हैं, पोषण के लिए नहीं खाते, किन्तु आदतवश खाते हैं। एक आदत बना लेते हैं और आदत को पूरा करने के लिए खाते हैं।

वैयक्तिक साधना के लोग संकरी पगडंडी पर चलते हैं, फिर वह चाहे वैज्ञानिक हो, चाहे अध्यात्म का साधक हो या ध्यान की आराधना करने वाला हो। ऐसा मार्ग कुछ लोग चुनते हैं। उतनी तितिक्षा, उतनी तपस्या हर व्यक्ति में नहीं होती कि उस मार्ग को चुने। सामान्य आदमी सामाजिक जीवन ही जीएगा। जीवन में जो कुछ है, वह करेगा।

ध्यान साधना की एक पद्धति है वैयक्तिक और दूसरी है सामुदायिक। जीवन विज्ञान की पद्धति मुख्यतः सामाजिक पद्धति है, क्योंकि वह सामाजिक जीवन को प्रभावित करने वाली है।

ध्यान सामुदायिक हो या वैयक्तिक, आखिर सत्य की खोज का मार्ग तो है ही। सत्य की खोज की जिज्ञासा न जागे तो ध्यान की रुचि ही पैदा नहीं होगी। जब अज्ञात को ज्ञात करने की भावना जागती है, अपने भीतर क्या है, यह जानने की भावना जागती है, अपने भाग्य को जानने और उसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बदलने की जिज्ञासा भी पैदा होती है, तब कहीं मनुष्य ध्यान के मार्ग में प्रवृत्त होता है।

यदि ध्यान के द्वारा कोई शक्ति नहीं जागी, जीवन की कोई रेखा नहीं बदली, पुरानी रेखा नहीं मिटी और नई रेखा नहीं खींची गई तो फिर लोग नहीं समझेंगे ध्यान का मूल्य। ध्यान करने वाला भी पूरा मूल्य नहीं समझ पाएगा।

प्रत्येक प्रवृत्ति की कसौटी समाज में होती है, मूल्यांकन समाज में होता है। वैयक्तिक मूल्य नहीं होता, वैयक्तिक कसौटी नहीं होती। ध्यान के द्वारा कुछ बदलना चाहिए।

जीवन विज्ञान की पद्धति वैज्ञानिक इस अर्थ में है कि अंधेरी कोठरी में ढेला फेंकने की बात इसमें नहीं है। पूरे विज्ञान के साथ यह चलती है। कारण और परिणाम—दोनों का स्थान इसमें है। इस आदत का कारण क्या है और इसका परिणाम क्या है? इसके बदलने का हेतु क्या है? और इसकी प्रक्रिया क्या है? यह सब बहुत स्पष्ट है गणित की भाँति। शरीर-विज्ञान को जानने वाला, मानव विज्ञान को जानने वाला इस सचाई को बहुत जल्दी पकड़ लेता है, उसकी समझ में आ जाता है कि हमारे शरीर में जो विशिष्ट केन्द्र हैं चेतना के, उनका फंक्शन क्या है? उनका परिणाम क्या है? यह बात तो शरीरविज्ञानी जानता है किन्तु ध्यान के द्वारा फंक्शन कैसे बदलता है और उसका परिणाम क्या होता है, यह शरीरविज्ञानी नहीं जानता। ये दोनों बातें जुड़ जाएं तो सामाजिक जीवन की पद्धति बदल सकती है। अभी अधूरी-अधूरी बात चल रही है, इसलिए आज अपेक्षा है कि सामाजिक शिक्षा के साथ अध्यात्म की शिक्षा जुड़े और सामाजिक जीवन प्रणाली के साथ अध्यात्म की जीवन प्रणाली जुड़े। दोनों का योग होने पर ही नई चेतना जाग सकती है, चेतना का रूपान्तरण हो सकता है।

चेतना के रूपान्तरण के बिना सामाजिक स्थितियां नहीं बदलतीं। हमारी चेतना जब बदलती है तब व्यवहार बदल जाता है। धर्म ने अहिंसा पर, अपरिग्रह पर बल दिया। इतना बल देने पर भी अहिंसा का विकास जितना होना चाहिए था, उतना नहीं हुआ। एक प्रश्न है क्यों नहीं हुआ? हजारों वर्षों की लम्बी परम्परा में इतना प्रयत्न करने पर भी ऐसा क्यों नहीं हुआ? कारण एक ही मालूम पड़ता है कि जीवन में अहिंसा उतरती है चेतना के बदल जाने पर। जीवन में अपरिग्रह उतरता है चेतना का रूपान्तरण हो जाने पर। चेतना तो मूल स्थिति में है। जितना ममत्व चित्त में चाहिए, जितनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आसक्ति चाहिए, जितनी संघर्षप्रियता, समस्या को संघर्ष के द्वारा सुलझाने की मनोवृत्ति चाहिए, वह चेतना में विद्यमान है और हम स्वप्न लेते हैं कि अपरिग्रह आये, अहिंसा आए। यह कैसे संभव होगा?

चेतना के रूपान्तरण का परिणाम

अहिंसा चेतना के रूपान्तरण का परिणाम है। चेतना के बदल जाने का एक व्यक्त रूप है अपरिग्रह। जब तक यह परिवर्तन नहीं होता, अहिंसा और अपरिग्रह के विकास की संभावना नहीं हो सकती।

जो व्यक्ति ध्यान करने वाला है, जिसकी चेतना बदली है, उसकी आस्था भी बदल जाएगी। आस्था का पहला आधार यह होगा कि मुझमें असीम शक्तियां हैं, यह विश्वास जागे। यह कसौटी है—ध्यान का अभ्यास करने पर भी दुर्बलता नहीं मिटी तो मान लेना चाहिए कि व्यक्ति ने ध्यान को नहीं पकड़ा, ध्यान ने व्यक्ति को नहीं पकड़ा। दोनों में संबंध जुड़ा नहीं। अपनी शक्तियों में विश्वास होना, यह पहली बात है।

दूसरी बात है, अपनी शक्तियों को जागृत करने में विश्वास होना। यह विश्वास होना कि मैं अपनी शक्तियों को जगा सकता हूं। इसके लिए एक सरल प्रक्रिया अध्यात्म के आचार्यों ने प्रस्तुत की। कोई काम करना हो तो सबसे पहले दस मिनट के लिए इस पर ध्यान को केन्द्रित करो कि मुझमें असीम शक्तियां हैं। फिर दस मिनट अनुभव करो—मेरी शक्तियां जाग उठी हैं, सक्रिय हो उठी हैं। फिर दस मिनट इस बात पर ध्यान केन्द्रित करो—मैं अपनी शक्ति का प्रयोग कर सकता हूं और मैं अपनी समस्या को सुलझा सकता हूं। तीन चरण में प्रयोग होगा। समय आधा घंटे का लगेगा, किन्तु यदि कार्य में दस घंटे लगते हैं तो पांच घंटे में ही कार्य हो जाएगा। मन की दुर्बलता जहां प्रबल है वहां शक्य कार्य भी अशक्य बन जाता है। मन की प्रबलता आती है, असंभव काम भी संभव लगने लग जाता है। साधुवाद देना चाहिए आज के वैज्ञानिकों को, जो कहीं हार नहीं मानते, कहीं पराजित नहीं होते। अनेक पीढ़ियां खप गईं, पर वे आगे से आगे विकास करते जा रहे हैं, खोजते जा रहे हैं। जिस समस्या को लिया, तब तक उसका पीछा नहीं छोड़ा जब तक कोई समाधान नहीं मिला। कितने लोग अपने प्राणों की आहुति दे देते हैं, पर समस्या से मुँह नहीं मोड़ते। ध्यान का बड़ा परिणाम है आस्था का बदलना, शक्ति पर भरोसा होना और शक्ति का प्रयोग करना।

सामाजिक जीवन में संघर्ष अनिवार्य है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि सामाजिक जीवन जीएं और संघर्ष न हो। निश्चित है, दो का होना और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टकराना। दो होने का मतलब ही है टकराना। दो बर्तन भी टकरा जाते हैं, कभी-कभी अपने दो हाथ भी टकरा जाते हैं। आदमी कपड़ा धोता है, हाथ टकरा जाते हैं, नाखून चमड़ी छील देते हैं, लहूलुहान हो जाता है। एक हाथ का नाखून दूसरे हाथ की चमड़ी को छील देता है, बेचारे नाखून का कोई दोष नहीं। दो का मतलब ही है टकराना। कभी सम्भव नहीं कि दो हों और न टकरायें। सामाजिक जीवन में संघर्ष अनिवार्य है।

ध्यान के परिणाम : समाज के संदर्भ में

जीवन विज्ञान का प्रयोग करने वाले व्यक्ति की चेतना बदलती है, उसकी आस्था बदलती है। उसका आधार यह बनता है कि सद्भावना और सहमति के द्वारा समस्याएं सुलझाई जा सकती हैं। संघर्ष की बात मन से टलं जाती है। वह सीधा यह नहीं सोचता कि ऐसा हो गया तो अब संघर्ष करना है, संघर्ष के सिवाय कोई उपाय नहीं। जरा-सी कुछ गड़बड़ हुई, गालियां बकें। थोड़ी-सी कोई स्थिति बनी, मारपीट करें या मार डालने की बात सोचें। यह एक रास्ता है। दूसरा रास्ता है समस्या को सुलझाने का—सद्भावना और सहमति का विकास करना। जीवन विज्ञान का प्रयोग करने वाला व्यक्ति सहमति और सद्भावना की चेतना को जगा लेता है। इससे उसका पारिवारिक जीवन भी सुखी बन जाता है। जिन लोगों ने ध्यान के द्वारा अपनी चेतना को बदला, उनका पारिवारिक जीवन सुखी बन गया। जिनका घर नारकीय आवास था, उनका घर स्वर्ग बन गया।

ध्यान का अभ्यास करने वाला व्यक्ति समाज को या किसी व्यक्ति को अपने गुलाम की भाँति नहीं देखता। उसकी दृष्टि बदल जाती है। अधिकांश कलह इसलिए होते हैं कि अहंकार को चोट पहुंचती है। पारिवारिक झगड़ों, कर्मचारियों के झगड़ों, अपने नौकरों के झगड़ों में मुख्य कारण मिलेगा दूसरों के अहंकार को चोट पहुंचाना। आदमी को इस बात में बहुत रस है। जितना रस रसगुल्ला खाने में नहीं है, उतना रस दूसरों के अहं को चोट पहुंचाने में है। जो दूसरे के अहंकार को चोट पहुंचा देता है, वह यह मान लेता है कि मैं बहुत बड़ा आदमी बन गया। अधिकांश लड़ाइयों के पीछे कारण खोजा जाए तो पता लगेगा कि कोई बड़ी बात की लड़ाई नहीं है, कोई उद्देश्यपूर्ण लड़ाई नहीं है, कोई मुद्दा भी नहीं है। एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति के अहं पर चोट की और वह फुफकारने लग गया। साँप भी तब काटता है जब उसके अहं को चोट लगती है, कोई उस पर पैर रख देता है।

अहंकार को चोट पहुंचाना एक मनोवृत्ति है तो दूसरी मनोवृत्ति है समता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और मैत्री का अनुभव करना। छोटे से छोटे व्यक्ति को, अपने नौकर और कर्मचारी को, एक मनुष्य की दृष्टि से देखना, चैतन्य की दृष्टि से अनुभव करना, यह है समता की दृष्टि। इससे सारी समस्या सुलझ जाती है। आदमी में अवमानना और अवज्ञा का भाव बहुत प्रबल होता है। जाने-अनजाने वह व्यक्तियों की अवमानना कर देता है। इतिहास को देखें, पता चलेगा, राजा ने सत्ता के मद में एक छोटे से कर्मचारी की अवमानना कर दी, एक छोटे से नागरिक की अवमानना कर दी। उसका परिणाम यह हुआ कि सारी सत्ता छिन गई और सम्राट को पदच्युत होना पड़ा।

चाणक्य कौन-सा बड़ा था? कोई बड़ा नहीं था। यदि राजा के द्वारा उसकी अवमानना नहीं होती तो शायद इतना बड़ा युद्ध भी नहीं होता और नंद वंश का विच्छेद भी नहीं होता, किन्तु अवमानना हुई और उस अकेले व्यक्ति ने, ब्राह्मण ने सकंल्प किया—जब तक नंद वंश का विच्छेद नहीं कर दूंगा, तब तक चोटी नहीं बंधेगी, चोटी खुली रहेगी।

हम सामाजिक घटनाओं से, समस्याओं से चिंतित होते हैं, सोचते हैं कि समाज में इस प्रकार की घटनाएं घटती हैं। पर इस बात पर ध्यान नहीं देते कि जो सोचते हैं, उनके मन से भी दूसरों को अवमानित करने की बात निकलती नहीं है। जहां भी अपना आधिपत्य होता है, अपनी प्रभुता होती है, वहां इस प्रकार का एक गुलाबी नशा छा जाता है आदमी पर, उसे इस बात का भान ही नहीं होता कि मेरा व्यवहार दूसरों के प्रति कैसा हो रहा है।

जीवन शैली में बदलाव

ध्यान करने वाले व्यक्ति को यह सोचना चाहिए कि उसका क्रोध कितना कम हुआ, व्यवहार कितना बदला, दूसरों को मूल्य देने की भावना कितनी जागी, दूसरों को अपने समान समझने और वैसा व्यवहार करने की वृत्ति कितनी विकसित हुई।

जिन लोगों ने ध्यान का अभ्यास किया, उनके बदले हुए जीवन के चित्र भी सामने प्रस्तुत हैं। हमारा केवल भविष्य में विश्वास नहीं है। हमारा वर्तमान में विश्वास है, वर्तमान के परिणाम में विश्वास है, प्रवृत्ति और परिणाम—दोनों की संयुक्तता में विश्वास है। ध्यान की धारणा ऐसी नहीं है कि अभ्यास करते जाएं और एक बिन्दु कोई आएगा कि बदल जाएगा। ध्यान की धारणा यह है कि आज शुरू करें तो लगना चाहिए कि भीतर में परिवर्तन शुरू हुआ है। भीतर की घटना कभी एक साथ बाहर नहीं आती। बीमारी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भीतर में होती है, बाहर आने में महीनों लग जाते हैं। कोई भी घटना, अच्छी या बुरी, भीतर में घटित होती है, बाहर आने में उसे काफी समय लगता है। दूसरों को पता चलने में समय लग जाए, कोई चिन्ता की बात नहीं। पर स्वयं को लगे कि भीतर में बदलना शुरू हो गया हूं। यहां एक चरण पूरा हो जाता है।

यदि यह प्रक्रिया बराबर चलती रहेगी तो दुनिया को पता लगने लग जाएगा कि इस व्यक्ति ने साधना की है और यह बदल गया है। कुछ लोग तो साधना को इतना सशक्त बना लेते हैं कि एक बार में ही उनके बदलने का पता लग जाता है और इसी आधार पर यह प्रेरणा जागी है कि आदमी बदलता है और जल्दी उसका पता लग जाता है।

शुद्ध साधनों के प्रति आस्था

आचार्य भिक्षु ने एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। दर्शन के क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण है वह सिद्धान्त। उस सिद्धान्त की व्याख्या, पूरे दो हजार वर्ष के काल में, कुछेक आचार्यों ने ही की है। वह सिद्धान्त है साधन-शुद्धि का। साध्य शुद्ध होना चाहिए, साध्य अभिप्रेत होना चाहिए, इस पर तो बहुत चर्चा की गई, पर जहां साधन का प्रश्न था वहां यह मान लिया गया कि अच्छे साधन से साध्य सिद्ध हो तो अच्छी बात है और अच्छे साधन से न होता हो तो बुरे साधन से भी उसे सिद्ध किया जा सकता है। आचार्य भिक्षु ने कहा—'शुद्ध साध्य के लिए साधन का शुद्ध होना अनिवार्य शर्त है।' जिस व्यक्ति में साधना फलवती होती है, जिसकी चेतना के दोष नष्ट हो जाते हैं और आंतरिक प्रकाश उद्दीप्त होता है, उस व्यक्ति के मन में सबसे पहला संकल्प यह होता है कि मुझे सुख, शांति को पाना है किन्तु पाऊंगा समुचित साधन के द्वारा। गलत साधन के द्वारा न सुख पाना है और न शांति। यह संकल्प प्रबल होता है तो नशे की प्रवृत्तियां, शून्यता लाने वाली औषधियां, और भी गलत प्रयोगों से, गलत साधनों से फलित की जाने वाली शांति और सुख—सब समाप्त हो जाते हैं।

शांति को उपलब्ध होना है, सुख को उपलब्ध होना है किन्तु किसी गलत साधन का प्रयोग नहीं करना है, यह निश्चित विश्वास आत्मा में जाग जाएगा।

सामाजिक जीवन का आधार

सामाजिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण आधार है सत्य। सत्य विराट् और अनन्त है। अनन्त के विषय में कल्पना नहीं की जा सकती। विज्ञान ने एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यंत्र बनाया है टेलिस्कोप। उस टेलिस्कोप से दो अरब प्रकाश वर्ष की दूरी पकड़ ली जाती है। दो अरब प्रकाश वर्ष कितनी दूरी का द्योतक है, कल्पना करना भी दुष्कर होता है। एक सेकेण्ड में एक लाख छियासी हजार मील की गति। इस गति से एक घंटा, एक दिन-रात, एक मास, एक वर्ष। यह है एक प्रकाश वर्ष की दूरी। ऐसे दो अरब प्रकाश-वर्ष। इस दूरी को वह टेलिस्कोप पकड़ लेता है। असंख्य द्वीप और समुद्र। आदमी सोचता है तो दिमाग चकरा जाता है। पर यह है सत्य। अब हम सोचें—कितना विराट् है सत्य। सत्य के पांच प्रकार या पांच अर्थ हैं—

1. अस्तित्व सत्य 2. नियम सत्य 3. ऋजुता सत्य 4. अविसंवादिता सत्य 5. प्रामाणिकता सत्य।

1. **अस्तित्व सत्य**—सत्य का एक अर्थ है—अस्तित्व अर्थात् जगत का अस्तित्व। हमारा अस्तित्व-जगत इतना बड़ा है कि उसके विषय में एक भाषा में कुछ कह पाना संभव नहीं है।

2. **नियम सत्य**—सत्य का एक अर्थ है—नियम, जागतिक नियम, सार्वभौम नियम। समय का चक्र अविरल गति से घूम रहा है, यह जागतिक नियम है। दिन होना, रात होना और यह क्रम निरन्तर चलते रहना, यह जगत का नियम है। गति, स्थिति और परिवर्तन—ये तीनों जागतिक नियम हैं।

अस्तित्व सत्य और जागतिक सत्य—ये दोनों सत्य समाज के साथ सीधे जुड़े हुए नहीं हैं। प्रत्यक्षतः इनसे समाज के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता।

नियम सत्य का दूसरा सन्दर्भ है—मनुष्यकृत नियम। वह भी एक सत्य है। मनुष्य नियम बनाता है। उसका पालन होता है और समाज के साथ उसका संबंध जुड़ा रहता है। धर्म-व्यवस्था के नियम हों या समाज-व्यवस्था के नियम हों, वे सत्य हैं। उन्हीं के आधार पर धर्म-व्यवस्था और समाज-व्यवस्था का निर्माण होता है। एक धर्म-गुरु अपने धर्म की आचार संहिता, मर्यादा और परम्परा के आधार पर निर्णय करता है और समाज-व्यवस्था का संचालक समाज-संहिता के आधार पर निर्णय देता है।

ये सारे नियम जागतिक या सार्वभौम नहीं हैं। ये सब कृतक हैं, मनुष्य द्वारा किए हुए हैं और इनसे समाज का सम्बन्ध जुड़ता है, समाज प्रभावित होता है।

नियमों का बहुत बड़ा जाल बिछा हुआ है। समय-समय पर नियम बनते रहते हैं। नये नियम बनते हैं, पुराने मिटते हैं और कुछ नियमों में परिवर्तन,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशोधन होता है। नियमों का पालन भी होता है और उल्लंघन भी होता है। नियमों का अतिक्रमण असत्य आ अन्याय माना जाता है।

3. **ऋजुता सत्य**—सत्य का एक अर्थ है—ऋजुता। यह आध्यात्मिक सत्य है। ऋजुता का अर्थ है—सरलता। ऋजुता का अर्थ है—अमाया, अछलना, अप्रवंचना। माया, छलना और प्रवंचना असत्य है। ऋजुता के तीन प्रकार हैं—मन की ऋजुता, वचन की ऋजुता और शरीर की ऋजुता। ये तीनों सत्य हैं। यह है मानसिक सत्य, वाचिक सत्य और कायिक सत्य। छिपाना असत्य है। आदमी छिपाता बहुत है। वह अपनी कमजोर और अप्रकटनीय स्थिति को छिपाता है। जो पाने की लालसा है उसे भी छिपाता है। इस प्रवृत्ति ने संदेह को जन्म ही नहीं दिया, उसे बढ़ाया भी है। ऋजुता में संदेह नहीं उभरता, अविश्वास पैदा नहीं होता। संदेह में शक्ति का अपव्यय होता है। संदेह के अभाव में आदमी पच्चीस प्रतिशत शक्ति बचा लेता है। यह शक्ति के अपव्यय का न्यूनतम अनुमान है। मायाचार में शक्ति बहुत खर्च होती है।

संदेह की कोई सीमा नहीं है। आदमी प्रत्येक प्रवृत्ति में संदेह कर लेता है। संदेह के कारण अनेक कल्पनाएं और अनेक विचार उत्पन्न होते हैं और तब आदमी न जाने क्या-क्या नहीं करता। संदेह के कारण शक्ति का अत्यधिक अपव्यय होता है। छिपाने की बात से संदेह उत्पन्न होता है। यदि संदेह और अविश्वास न हो तो अनेक दुर्घटनाएं और संघर्ष समाप्त हो सकते हैं। पारिवारिक और सामाजिक कलहों का मुख्य कारण संदेह होता है। संदेह के कारण बड़े-बड़े साम्राज्य नष्ट होते देखे गए हैं।

इस ऋजुतात्मक सत्य का अतिक्रमण करने के कारण समाज ने कितनी काल-रात्रियां भोगी हैं, कितनी कठिनाइयों का सामना किया है? ऋजुता में संदेह नहीं पनपता। संदेह नहीं होता है तो अनेक दुर्घटनाएं अपने आप टल जाती हैं।

छुपाव बुराइयों की जड़ है। कानून एक सत्य है, नियम एक सत्य है। पर बेचारा नियम या कानून क्या करे, जब समाज में छिपाने की अधिक प्रवृत्ति हो। छिपाव में प्रत्यक्षतः बुराई नहीं होती, बुराई भूमिगत होती है। राशन का नियम नहीं है तो दुकानों में अनाज का भंडार भरा है। राशन का नियम आया और दुकानों से अनाज गायब। सब भूमिगत हो जाता है। यह सब छिपाव के कारण होता है, ऋजुता के अभाव में होता है।

प्रश्न होता है कि समाज में ऋजुता का विकास किया जा सकता है? यदि समाज को यथार्थ के आधार पर चलना है, व्यवहार को मानवीय धरातल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर चलना है, उसे स्नेहपूर्ण और मृदुतापूर्ण बनाना है तो ऋजुता को प्रश्रय देना ही होगा, छलना, प्रवंचना, संदेह और अविश्वास के भूत को भगाना ही होगा। अन्यथा व्यक्ति-व्यक्ति के दुराव को हम मिटा नहीं पाएंगे। दो व्यक्ति पास-पास बैठे हैं, पर उनके मन की दूरी हजारों मील की है। दो व्यक्ति हजारों मील दूर हैं, पर उनका मन निकट है, समीप है। मन की दूरी का कारण है संदेह और छिपाव। मन की निकटता का कारण है ऋजुता और स्पष्टता।

प्रत्येक व्यक्ति में अऋजुता का भाव है। यह उसकी दुर्बलता है। वह इस कमजोरी के कारण स्वार्थ और मोहवश अनेक बुराइयों में फंसता है। उसकी यह कमजोरी छूटती नहीं क्योंकि छिपाव में उसका तीव्र रस है।

4. **अविसंवादिता सत्य**—सत्य का एक अर्थ है—अविसंवादिता अर्थात् कथनी और करनी की समानता। सामाजिक जीवन के साथ इसका बहुत बड़ा सम्बन्ध है। इससे समाज प्रभावी बनता है।

जब तक व्यक्ति में राग-द्वेष है, प्रियता-अप्रियता का द्वन्द्व है, तब तक कथनी और करनी, ज्ञान और आचरण की दूरी मिट नहीं सकती। इनमें अविसंवादिता आ नहीं सकती। कथनी और करनी की विसंवादिता को मिटाना ऊँचे शिखर पर आरोह करने जैसा कार्य है।

जैन परम्परा में वीतराग और अवीतराग की सात कसौटियां हैं। उनमें एक है विसंवादन। जिसमें विसंवादन होता है, कथनी और करनी में समानता नहीं होती, वह है अवीतराग और जिसमें कथनी और करनी की समानता होती है, अविसंवादन होता है, वह है वीतराग। राग-ग्रस्त व्यक्ति जैसा कहता है वैसा करता नहीं। यह उसका लक्षण है। पर मात्रा में तरतमता होती है। यह एक मान्य तथ्य है कि इस ज्ञान और आचरण की दूरी को पूर्णतः मिटाया नहीं जा सकता, किन्तु कम किया जा सकता है।

राजनीति के क्षेत्र में यह दूरी चिन्ता का विषय नहीं है, क्योंकि वह क्षेत्र कूटनीति का है और उसकी बुनियाद इसी दूरी पर आधृत है। सामाजिक क्षेत्र में यह दूरी कुछ समस्या पैदा करती है। वहां भी वह चलती है, पलती है। यह आश्चर्य की बात नहीं है। किन्तु आश्चर्य तब होता है जब आत्मा और चैतन्य के प्रति जागृत व्यक्ति भी उस दूरी को पालता है, बढ़ाता है। इसका स्पष्ट हेतु है कि व्यक्ति ने अहंकार और ममकार से अभी छुटकारा नहीं पाया है। ये दो हेतु उस दूरी के कारण हैं।

ममत्व विकट समस्याएं पैदा करता है। इसके कारण आदमी का सिद्धान्त और आचरण अलग-थलग जा पड़ते हैं, कथनी और करनी की दूरी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बढ़ जाती है। यह सामाजिक जीवन को प्रभावित करने वाली बहुत बड़ी समस्या है।

5. **प्रामाणिकता सत्य**—सत्य का एक अर्थ है प्रामाणिकता। समाज का अर्थ है—व्यवहार। दस-बीस आदमियों का एकत्रित हो जाना ही समाज नहीं है। समाज का तात्पर्य होता है—लेन-देन, विनिमय, व्यवहार। समाज की यही परिभाषा है। हजार आदमी हों या हजार पशु हों, वह समाज नहीं कहलाता। जहां परस्पर विनिमय होता है, व्यवहार होता है, वह समाज कहलाता है। संस्कृत में दो शब्द हैं—समाज और समज। जहां व्यवहार होता है वह है समाज और जहां व्यवहार की कोई गुंजाइश ही नहीं होती, वह है समज। पशुओं का समाज नहीं होता। उनका समूह समज कहलाता है। आदमियों का समूह समाज कहलाता है, क्योंकि वहां विनिमय है।

आज अनैतिक, क्रूर और जटिल व्यवहार के कारण समाज में हजारों समस्याएं उत्पन्न हुई हैं। सामाजिक मूल्यों का विकास इसलिए नहीं हो रहा है कि आदमी में प्रामाणिकता नहीं है। एक समय था जब भारतवासी प्रामाणिकता के लिए विश्रुत थे। उस समय यहां घी दूध की नदियां बहती थीं। चोरी-डकैती का नामोनिशान नहीं था। बड़े से बड़ा राज्याधिकारी प्रामाणिकता से कार्य करता था। महामात्य चाणक्य मगध सम्राट का सर्वेसर्वा था। जब वह राज्य का कार्य करता तब राज्य का दीपक जलाता और जब वह अपना व्यक्तिगत कार्य करता तब अपने घर का दीया जलाता। कितनी प्रामाणिकता! आज भी कुछेक राज्याधिकारी ऐसे हैं जो सरकारी काम में सरकार की मोटर का उपयोग करते हैं और अपने व्यक्तिगत या पारिवारिक कार्य में व्यक्तिगत मोटर अथवा बस आदि का उपयोग करते हैं। यह है प्रामाणिक व्यवहार।

प्रामाणिक व्यवहार जीवन का आधार है। इससे व्यक्तित्व निखरता है। जीवन-विज्ञान की शिक्षा पद्धति में विद्यार्थी को प्रामाणिक जीवन जीने की कला सिखाई जाती है।

यदि सत्य के ये पांचों अर्थ विद्यार्थी के जीवन में समाविष्ट होते हैं तो वह विद्यार्थी राष्ट्र का उन्नत नागरिक बन सकता है और उसका व्यक्तित्व समाज के लिए दीप-स्तम्भ बन सकता है।

यथार्थवादी दृष्टिकोण और ध्यान

युग की एक अपेक्षा है आध्यात्मिक व्यक्तित्व का निर्माण। यह केवल युगीन अपेक्षा ही नहीं है, समाज की शाश्वत अपेक्षा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दो प्रकार के व्यक्तित्व होते हैं—भौतिक व्यक्तित्व और आध्यात्मिक व्यक्तित्व। अहंकार और ममकार की रेखाओं से जिस व्यक्तित्व का निर्माण होता है, वह भौतिक व्यक्तित्व होता है। जिस व्यक्तित्व का निर्माण सचाइयों के आधार पर होता है, काल्पनिक रेखाओं के आधार पर नहीं होता, वह आध्यात्मिक व्यक्तित्व होता है।

समाज में सबसे बड़ा प्रश्न है सम्बन्धों का। व्यक्ति अकेला नहीं है। वह समाज का जीवन जी रहा है। सामाजिक जीवन का अर्थ है संबंधों का जीवन। सम्बन्ध ही सम्बन्ध। पदार्थ के साथ सम्बन्ध, परिवार के साथ सम्बन्ध, गाँव और राष्ट्र के साथ सम्बन्ध। इन संबंधों की पूरी शृंखला है। सामाजिक प्राणी इस शृंखला से बंधा हुआ है। आध्यात्मिक व्यक्ति भी संबंधों को सर्वथा छोड़ नहीं सकता। जब तक जीवन यात्रा चलती है तब तक संबंध भी बने रहते हैं। वे छूटते नहीं। सदेह अवस्था में संबंध नहीं छूटते। विदेह अवस्था में संबंध नहीं रहते। जब तक शरीर है, इन्द्रियां हैं, मन है तब तक सारे संबंध छोड़े नहीं जा सकते।

संबंधों का जीवन आध्यात्मिक व्यक्ति को भी जीना पड़ता है। पर दोनों के जीवन में बड़ा अन्तर होता है। भौतिक व्यक्ति अहंकार और ममकार के साथ संबंध जोड़ता है। उसका कोई भी संबंध ऐसा नहीं होता, जिसकी पृष्ठभूमि में अहंकार या ममकार की परछाईं न हो। 'मैं हूं'—यह अनुभूति शाश्वत की अनुभूति है। अपने अस्तित्व की अनुभूति है—अहं अस्मि—'मैं हूं।' किन्तु आदमी जब अहंकार के साथ जुड़ता है तब मैं हूं—यह अस्तित्व के साथ जुड़ा हुआ प्रयोग नहीं होता, प्रतिष्ठा-पद के साथ जुड़ा हुआ प्रयोग होता है। 'मैं हूं' का अर्थ तब हो जाता है- 'मैं धनवान हूं', 'मैं शासक हूं', 'मैं शक्तिशाली हूं' आदि-आदि। अस्तित्व-बोध का अहं खतरा पैदा नहीं करता किन्तु दूसरे अहं बहुत बड़े खतरे पैदा कर देते हैं। अहं व्यक्ति को बांट देता है। यह छोटा है, मैं बड़ा हूं। यह नौकर है इसलिए छोटा है, मैं मालिक हूं इसलिए बड़ा हूं। आदमी आदमी के बीच एक भेदरेखा खिंच जाती है। आदमी को विभक्त करने वाली पहली रेखा है अहंकार। वह अपने आपको एक रूप में देखता है, दूसरे को दूसरे रूप में। मैं कुलीन हूं, यह कुलीन नहीं है। मैं स्पृश्य हूं, यह अस्पृश्य है। ये सारी भेदरेखाएं अहंकार के आधार पर खिंची हुई हैं। पूरा समाज इन रेखाओं से भरा पड़ा है। प्रारम्भ में समाज चतुर्वर्ग—चार वर्गों में ही विभक्त था। उसके अवान्तर विभाग और भेदरेखाएं इतनी हो गई कि आदमी कहां है, यह पता ही नहीं चलता, आदमी को कभी पहचाना ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं जाता। एक जाति में भी इतनी अवान्तर जातियां हैं कि आदमी उनके नीचे दबा पड़ा है, उसका पता ही नहीं है।

दूसरा तत्त्व है ममकार। यह भी बांटता है आदमी को। ममकार का अर्थ है—मेरा। जिसके साथ 'मेरा' शब्द जुड़ गया, वह भिन्न वस्तु हो गई और जिसके साथ 'तेरा' शब्द जुड़ गया, वह भिन्न वस्तु हो गई। आदमी भी अलग हो गया। 'मेरा बेटा'—बेटा अलग हो गया, मेरा अलग हो गया। वह भी बंट गया। मेरा घर और तेरा घर—एक दीवार खिंच गई। दो सगे भाई भी जब 'मेरे' 'मेरे' में रहते हैं तो बीच में दीवार खिंच जाती है।

अहंकार ने व्यक्ति को बाँटा है। ममकार ने भी व्यक्ति को बाँटा है। इस प्रकार भौतिक व्यक्तित्व का अर्थ होता है व्यक्तियों को तोड़ना, बाँटना।

आध्यात्मिक व्यक्ति तोड़ता नहीं, जोड़ता है। वहां तोड़ने वाला कोई तत्त्व नहीं होता। इसी सच्चाई को प्रकट करने के लिए यह घोषणा की गई थी—एक्का मणुस्सजाई—मनुष्य जाति एक है। भौतिक व्यक्ति के मुंह से यह शब्द कभी उच्चरित नहीं हो सकता। जिस मंच से यह घोषणा हुई, वह आध्यात्मिक मंच था। वहां व्यक्ति-व्यक्ति में कोई भेद का अनुभव नहीं किया गया।

आध्यात्मिक व्यक्तित्व में पदार्थ का भोग होगा। आध्यात्मिक व्यक्तित्व खाएगा, पीएगा, कपड़े भी पहननेगा, मकान में भी रहेगा। यह सब कुछ करेगा पर वह यह कभी नहीं कहेगा—मेरा कपड़ा, मेरा मकान। वह कहेगा—इस मकान में मैं अभी रह रहा हूं। यह कपड़ा मेरे पहनने के काम आ रहा है। गाँवों में जब लोगों से पूछते हैं—यह मकान तुम्हारा है? घर का मालिक कहता है—'मकान किसका। भगवान का है महाराज, मैं तो यहां रहता हूं।' इस कथन के पीछे एक सिद्धान्त है, ममत्व नहीं है। मकान किसका हो सकता है? किसी का नहीं हो सकता। यह सचाई है—आज तक भी यह संपदा और भूमि शाश्वत कन्याएं हैं, कुँआरी कन्याएं हैं। आज तक इनका पाणिग्रहण नहीं हुआ, विवाह नहीं हुआ। सम्पत्ति शाश्वत कुँआरी है। अनन्त काल बीत जाने पर भी वह वैसी ही है और वैसी ही रहेगी।

पदार्थ का भोग करना और पदार्थ के साथ ममत्व जोड़ना—ये दो भिन्न बातें हैं। सब जानते हैं कि मेरा कुछ भी नहीं है, फिर भी काल्पनिक रेखाएं खींची जाती हैं और हर किसी को 'मेरा' मान लिया जाता है। मेरा कुछ होता ही नहीं। सारा धोखा होता है। जब आदमी ठगा जाता है तब भान होता है कि जो मेरा नहीं था, उसे मेरा मानकर बहुत बड़ी भूल की। सारा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसार इस धोखे की अनुभूति कर चुका है, कर रहा है और करता रहेगा। यह भौतिक व्यक्तित्व की प्रकृति है। इससे बचा नहीं जा सकता।

आध्यात्मिक व्यक्तित्व केवल यथार्थवादी दृष्टिकोण के आधार पर निर्मित होता है और भौतिकवादी व्यक्तित्व काल्पनिक रेखाओं के आधार पर निर्मित होता है। यह भ्रान्ति न रहे कि आध्यात्मिक व्यक्ति पदार्थ का उपभोग नहीं करता। वह पदार्थ का उपयोग और उपभोग करता है और वास्तव में वही पदार्थ का सही उपभोग करता है। भौतिकवादी पदार्थ का उपभोग कम करता है, दुःख का उपभोग अधिक करता है। वह प्रत्येक चीज के साथ दुःख को जोड़ देता है।

एक बहन ने कहा—ध्यान की साधना करने से पूर्व घर के प्रति अत्यन्त मोह था। अब वह क्षीण होता जा रहा है। उसकी सघनता मिट रही है। घर में रहती हूं, पर मोह नहीं है। छोड़ आती हूं तो कोई कष्ट नहीं होता।

एक भाई ने कहा—मेरी पत्नी अभी शिविर में है। उसके लिए घर छोड़कर बाहर जाना सबसे बड़ी समस्या है। मैंने उससे बात की। मुझे प्रतीत हुआ कि अब उसमें घर के प्रति वह मोह नहीं रहा, जो पहले था। उसका मोह शनैः शनैः क्षीण हो रहा है। यह उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि है।

जब आध्यात्मिक व्यक्तित्व बनता है तब सबसे पहले अहंकार और ममकार की बेड़ियां टूटती हैं। जब तक ये बेड़ियां नहीं टूटतीं तब तक कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक व्यक्तित्व का निर्माण नहीं कर सकता। समस्याओं को पैदा कौन कर रहा है? आदमी जो दुःख ढो रहा है, उस दुःख का कर्ता कौन है? मनुष्य अपने आप समस्याओं को पैदा करता है। वही दुःख को उत्पन्न करता है। एक प्रिय व्यक्ति चला जाता है। जो चला गया, उसको कोई दुःख नहीं है। पीछे रहने वाले दुःख करते हैं, रोते हैं, बिलखते हैं? क्या मरने वाला भी रोता-बिलखता है? वह भी तो यहां से बिछुड़ा है पर मरने वाला रोता नहीं है। दूसरे इसलिए रोते हैं कि उन्होंने मान लिया था, यह मेरा है। यह सत्य का अतिक्रमण है, सचाई को झुठलाने का प्रयत्न है। यह शाश्वत नियम है—सम्बन्धों की इस दुनिया में कोई किसी का नहीं है। यदि कोई किसी का होता तो कोई किसी को छोड़कर नहीं जाता। हम यह अनादि काल से अनुभव कर रहे हैं कि व्यक्ति चला जाता है, धन चला जाता है, सत्ता और संपदा चली जाती है। यदि ये यथार्थ होते, संबंध शाश्वत होते तो कोई किसी को छोड़कर कभी नहीं जाता।

आदमी दुःखी क्यों होता है? यथार्थ में देखें तो प्रिय व्यक्ति के चले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाने का दुःख नहीं है किन्तु जो ममत्व और मेरापन पाल रखा था, उसका दुःख है। यह 'मेरा' था इसका दुःख है। जहां असत्य के आधार पर जीवन चलता है, वहां समस्याएं उभरती रहती हैं।

एक लड़के ने मां के लिए सुन्दर साड़ी भेजी। उसने पत्र में लिखा था—इस साड़ी के सौ रुपये लगे हैं। साड़ी मनपसन्द थी। उसे लगा, ऐसी साड़ी के सौ रुपये अवश्य लगे होंगे। पास-पड़ोस की औरतें आईं। बातचीत में उसने अपने लड़के द्वारा भेजी साड़ी का जिक्र कर दिया। दिखाई। दूसरी औरतों ने मूल्य पूछा। उन्हें जानकर यह आश्चर्य हुआ कि इतनी बढ़िया और सुन्दर साड़ी सौ रुपये में कैसे आ आई? एक बहिन बोली—मैं इसके ढाई सौ रुपये देती हूं, यह साड़ी मुझे दे दो। उसने दे दी। डेढ़ सौ रुपये की कमाई हुई है, यह सोचकर वह प्रसन्न हो गई। कुछ दिनों के बाद लड़का घर आया। उसने पूछा—माँ! साड़ी पसन्द तो आई होगी? तूने उसका उपभोग किया नहीं? माँ बोली—मैंने तो ढाई सौ रुपयों में बेच दी। लड़का बोला—माँ! तूने अनर्थ कर डाला। वह एक हजार रुपयों की साड़ी थी। माँ ने कहा—अरे, तूने तो लिखा था कि वह सौ रुपयों की साड़ी है। बेटा बोला—मैंने डर के मारे लिखा था। मुझे भय था कि माँ कहेगी—इतना खर्च क्यों किया?

असत्य के आधार पर चलने वाला जीवन किस प्रकार धोखा खाता है। इसका यह एक मार्मिक उदाहरण है। न जाने ऐसा धोखा कौन नहीं खाता। बहुत लोग ठगे जाते हैं। झूठ पर हमारा विश्वास जम गया, पर क्यों जमा? कहा तो यह जाता है कि झूठ बोलने वाले का विश्वास नहीं होता। यह कहते भी जाते हैं, इसकी दुहाई भी देते हैं और झूठ पर विश्वास भी जमाए रखते हैं। बड़ी विचित्र स्थिति है। यह दोहरे व्यक्तित्व की प्राप्ति ही तो भौतिक व्यक्तित्व का परिणाम है। हमें दुहाई कुछ दी जाती है और आचरण कुछ और ही होता है। ये सारी समस्याएं भौतिक व्यक्तित्व की समस्याएं हैं।

आज यह आस्था बन गई है कि सचाई से काम नहीं चल सकता। झूठ से काम चलता है। इसी आधार पर जीवन की सारी प्रक्रिया चलती है। आज का व्यक्ति माता-पिता से झूठ बोल सकता है, भाई और मित्र से झूठ बोल सकता है, पत्नी से झूठ बोल सकता है, धर्म-गुरुओं को भी वह नहीं छोड़ता। वहां भी झूठ का व्यवहार कर लेता है क्योंकि उसकी आस्था है—झूठ के सहारे दो मिनट में काम बन जाता है और सत्य से काम नहीं बनता। ऐसे तर्क देने वालों ने कभी नहीं सोचा कि झूठ से काम बनता है या झूठ पाल रहे हो, इससे काम बनता है? तुम भी झूठ पाल रहे हो और काम बनाने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाला भी झूठ पाल रहा है। दोनों झूठ पालते हैं इसलिए काम बनता है। आदमी बेईमानी को छिपाना चाहता है, बुराई करना चाहता है और तब करता है, जब झूठ का सहारा मिल जाए।

आध्यात्मिक व्यक्तित्व में चिन्तन की धारा बदल जाती है। वह कभी गलत काम करना ही नहीं चाहता। उसे झूठ के सहारे की कभी जरूरत ही नहीं होती। झूठ का सहारा तब चाहिए जब कोई गलत काम को संभालना हो या उसे पालना हो। जो व्यक्ति यथार्थ की भूमिका पर ही काम करता है, वह सोचता है—काम बने या न बने, मुझे झूठ का सहारा कभी नहीं लेना है। झूठ के सहारे जो काम बनता है, वह काम भी झूठा ही होता है।

आज की सबसे विकट समस्या है—भौतिक व्यक्तित्व का विकास। हम इसे पदार्थ विकास के साथ न जोड़ें। पदार्थ का विकास होना भौतिक व्यक्तित्व का विकास नहीं है। पदार्थ का विकास आध्यात्मिक व्यक्ति भी कर सकता है क्योंकि पदार्द एक अपेक्षा है, आवश्यकता है। आज का आदमी पदार्थ से इतना जुड़ गया कि उसका दृष्टिकोण पदार्थपरक बन गया।

ध्यान और धर्म की निष्पति यह है कि पदार्थ और चेतना के बीच की रेखा स्पष्ट ज्ञात रहे। जब पदार्थ और चेतना के भेद की रेखा विस्मृत हो जाती है तब सारी समस्याएं उत्पन्न होती हैं। हमारा यह दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से निष्पन्न हो कि पदार्थ पदार्थ है, चेतना चेतना है। दोनों के बीच में एक भेदरेखा है।

साधक कायोत्सर्ग करते हैं। क्या वे इसलिए करते हैं कि विश्राम मिल जाए, रक्तचाप कम हो जाए, शरीर की क्रियाएं संतुलित हो जाएं? यदि इन्हीं कारणों से किया है तो उन्होंने शवासन किया है, कायोत्सर्ग नहीं। शवासन का अर्थ है—मुर्दे का आसन। जब उस आसन में चेतना नहीं है तो वह शवासन ही है। कायोत्सर्ग शवासन नहीं है, वह उससे भिन्न है। कायोत्सर्ग में चेतना का आभास होता है, शरीर छूटता है। काया का उत्सर्ग करने वाला चेतन बच जाता है। एक में चेतन बचता है और दूसरे में शरीर बचता है। दोनों शब्द यही स्पष्ट ध्वनित करते हैं, दोनों शब्दों का अपना गहरा अर्थ है। कायोत्सर्ग में जो जाता है वह चेतन है, द्रष्टा है, वह काया को छोड़ता है। दोनों के बीच में एक रेखा है। तुम अलग हो, मैं अलग हूं। हम दोनों साथ-साथ जी रहे हैं, किन्तु कायोत्सर्ग में मैं इस सचाई का अनुभव कर रहा हूं कि तुम तुम हो, मैं मैं हूं। यदि इस सचाई का अनुभव नहीं होगा तो कायोत्सर्ग नहीं होगा, कोरा शवासन होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कायोत्सर्ग देहाध्यास को मिटाने की महत्त्वपूर्ण साधना है। इससे विवेक चेतना का जागरण होता है। विवेक चेतना—शरीर अलग है, मैं अलग हूं। जब शरीर के साथ भी ममकार नहीं रहा तो फिर अन्य पदार्थ के साथ भी ममकार नहीं रहेगा। सारे ममकार का जनक है शरीर। शरीर के प्रति जितनी गहरी मूर्च्छा होती है, उतनी गहरी मूर्च्छा पदार्थों के साथ भी होती चली जाती है। जिस व्यक्ति का अपने शरीर के प्रति ममत्व छूट गया, जिसने चैतन्य का शरीर से पृथक् अनुभव कर लिया, वह कभी शरीर के प्रति मूर्च्छावान नहीं हो सकता। जब देहाध्यास प्रबल होता है, देहासक्ति का प्राबल्य होता है तब शरीर के प्रति मूर्च्छा जागती है और भौतिक अस्तित्व के प्रति आसक्ति जाग जाती है। तब उसके सामने केवल भौतिक अस्तित्व दृश्य होता है, वह दूसरों की बात को देख ही नहीं पाता।

कायोत्सर्ग का प्रयोग चैतन्य के जागरण का प्रयोग है। पैर के अँगूठे से लेकर सिर तक प्रत्येक अवयव के प्रति जाग जाना, शरीर के प्रति जागृत हो जाना, शरीर की प्रकृति को समझ लेना, शरीर की सचाइयों को जान लेना—यह सारी फलश्रुति है कायोत्सर्ग की। जो व्यक्ति इतना जागरूक हो जाता है, वह साक्षात्कार की भूमिका में चला जाता है। आत्मा और परमात्मा के साक्षात्कार से पहले हम अपने व्यक्तित्व का साक्षात्कार करें। यह जान लें कि हमारा व्यक्तित्व क्या है? किन-किन तत्वों से बना है? इसका साक्षात्कार होता है कायोत्सर्ग के द्वारा।

पुराने जमाने की बात है। सम्राट के मन में स्वर्ग और नरक का साक्षात्कार करने की इच्छा उत्पन्न हुई। उस इच्छा को पूरी करने के लिए वह अनेक स्थानों पर गया। अनेक व्यक्तियों से मिला पर स्वर्ग और नरक का साक्षात्कार कराने वाला कोई नहीं मिला।

एक बार नगर में एक संन्यासी आया। लोगों में चर्चा हुई। उसकी शक्ति-सम्पन्नता की बात सम्राट् तक पहुंची। सम्राट वहां गया, उसने प्रार्थना की—'महाराज! स्वर्ग और नरक का साक्षात्कार कराएं।' संन्यासी बोला—'राजन्! साक्षात्कार करके क्या करोगे? अच्छा नहीं है स्वर्ग और नरक का साक्षात्कार करना। भूल जाओ इस बात को।' सम्राट् ने आग्रह किया। संन्यासी ने कहा—बैठ जाओ यहां। कुछ क्षण तक ध्यान करो! ध्यान किया। संन्यासी ने कहा—'अरे, सम्राट्! कितना भद्दा है तुम्हारा चेहरा। यदि कोई अंधेरे में देख ले तो भूत समझकर डर जाए। अरे, मुँह पर मक्खियां भनभना रही हैं, लार टपक रही है। तुम सफाई करना भी नहीं जानते। किसने बना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिया तुमको सम्राट्?'

सम्राट ने सुना। वह अवाक् रह गया। मुँह तमतमा उठा। होठ फड़कने लगे। त्यौरियां चढ़ गयीं। आँखों से खून बरसने लगा। इतना गुस्सा उतरा कि वह पागल-सा हो गया। उसने तलवार निकाल कर कहा—'तुम मुझे क्या नरक दिखाओगे, मैं अभी तुम्हें नरक का मजा चखाता हूं। तुमको विवेक ही नहीं है कि तुम किसके सामने बोल रहे हो? क्या कह रहे हो?'

संन्यासी हंस पड़ा। वह बोला—'सम्राट् नरक का साक्षात्कार हुआ या नहीं? सम्राट्! देखो, जब-जब व्यक्ति आवेश में होता है, भान भूल जाता है, तब-तब वह नरक का साक्षात्कार करता है।' यह सुनते ही सम्राट् संभला। उसने सोचा—सचमुच, संन्यासी मुझे ठीक कह रहा है। मैंने गलत किया। पहले सोचना चाहिए था कि संन्यासी मुझे भला-बुरा क्यों कह रहा है? मैंने सोचा नहीं और क्रोध में आविष्ट हो गया। सम्राट् अनुताप करने लगा। उसने नम्रता के साथ संन्यासी के चरण छुए। वह बोला—'महाराज! क्षमा करें। मैं भान भूल गया था। मैंने अपराध किया है।' सम्राट् के चेहरे पर शान्ति छा गई। जब उत्तेजना की तेजी के बाद शान्ति आती है तब वह और अच्छी होती है। उसके चेहरे पर सौजन्य का भाव झलकने लगा। विनय और श्रद्धा प्रगट हुई। संन्यासी ने तत्काल कहा—'सम्राट्! तुम स्वर्ग का साक्षात्कार करना चाहते थे। तुम्हारी वर्तमान की भावधारा, स्थिति साक्षात् स्वर्ग है।' सम्राट् समझ गया।

जिसे स्वर्ग और नरक का साक्षात्कार करना है वह अपने व्यक्तित्व को देखे। उसमें दोनों प्राप्त हैं। अपेक्षा है गहराई में जाने की, डुबकियां लेने की। यह बात प्रयोग के बिना संभव नहीं है। जिस व्यक्ति ने प्रयोग नहीं किया, अपने भीतर झाँकने का प्रयत्न नहीं किया, केवल दो खिड़कियों (आँखों) को खुला रखा, भीतर देखने के लिए तीसरी खिड़की (तीसरे नेत्र) को खोला ही नहीं, वह इस सत्य को कभी नहीं पकड़ पाएगा। वह केवल शब्दों के जाल में उलझा

उर्दू के प्रसिद्ध शायर मिर्जा साहब लखनऊ गए। सभा हो रही थी। कुछ लोग दिल्ली से आए। सभा में हंगामा हो गया। मिर्जा साहब ने कहा—सब शान्त रहें। सभा भंग क्यों करना चाहते हैं? परिषद् से आवाज आई—हमारा एक विवाद है। जब तक विवाद नहीं मिटेगा तब तक सभा नहीं होने देंगे। मिर्जा साहब ने पूछा—क्या है विवाद? वे बोले—हम निर्णय करना चाहते हैं कि रक्त शब्द पुल्लिंग है अथवा स्त्रीलिंग? हम दिल्ली वाले रक्त को स्त्रीलिंग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और लखनऊ वाले पुल्लिंग मानते हैं। पर वास्तव में वह है क्या, इसका निर्णय अभी होना चाहिए।

मिर्जा साहब बोले—बहुत छोटी बात है। जब स्त्रियां बैठी होती हैं तब रक्त स्त्रीलिंग होता है और जब पुरुष बैठे होते हैं तब रक्त पुल्लिंग होता है।

हम शब्दों की दुनिया में जीते हैं। शब्दों का विवाद चलता ही रहता है। उसका कभी अन्त ही नहीं आता। जो व्यक्ति अनुभव में चला जाता है वह झगड़ा करता ही नहीं और जो अनुभव में नहीं जाता, वह कभी झगड़ा छोड़ता नहीं। जहां तर्क है वहां प्रतितर्क है। मान्यताओं और सिद्धान्तों की लड़ाइयां तर्क के आधार पर होती हैं। अनुभव के आधार पर कोई लड़ाई नहीं होती। अनुभव पर कोई जाना नहीं चाहता और लड़ाई को छोड़ना नहीं चाहता, यह एक समस्या है। इन सब समस्याओं से निपटने का उपाय है—अनुभव का जागरण। अनुभव के जागते ही वैयक्तिक और सामाजिक—दोनों समस्याएं समाहित हो जाती हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार कलश (श्लोक-9) में लिखा है—

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं,
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्,
अनुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव।।

जब अनुभव जागता है तब न वाद काम देता है, न प्रमाण काम देता है, न निक्षेप काम देता है। ये सारे वाद, प्रमाण और निक्षेप न जाने कहां छिप जाते हैं। कहीं द्वैत लगता ही नहीं।

ध्यान का सबसे बड़ा परिणाम है—अनुभव का जागरण। ध्यान के द्वारा अनुभव नहीं जागता है तो मानना चाहिए कि ध्यान की निष्पत्ति पूरी नहीं हुई है। ध्यान की साधना करने वाले व्यक्ति में कुछ न कुछ अनुभव जागता ही है। अनुभव का जागना एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। जिस दिन प्रत्येक व्यक्ति अनुभव-चेतना से संपन्न होगा, स्वस्थ समाज रचना का सपना सच में रूपायित हो जाएगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर्यावरण

हमारा दृश्य जगत दो तत्वों का संग्रहालय है। एक तत्व है जीवच्छरीर और दूसरा तत्व है जीव-मुक्त शरीर। हमें जो कुछ दिखाई दे रहा है, वह वर्तमान में किसी न किसी जीव का शरीर है अथवा वह पहले किसी न किसी जीव का शरीर रह चुका है इसलिए सृष्टि को हम जीव-शरीर की सृष्टि कह सकते हैं।

मनुष्य स्वयं प्राणी है इसलिए वह स्वयं पर्यावरण का एक अंग है। उसके लिए सारी सृष्टि पर्यावरण है। पर्यावरण को प्रदूषित करने वाला अपने अस्तित्व को इसलिए खतरा पैदा कर रहा है कि वह स्वयं पर्यावरण से अभिन्न है। पर्यावरण को खतरा स्वयं के लिए खतरा है। इस अवधारणा अथवा अनुभूति के साथ ही हम अपनी वक्तव्यता प्रारम्भ करना चाहते हैं।

प्रश्न है विकास की सीमा का

वक्तव्य का पहला चर्चनीय बिन्दु है विकास। विकास के विषय में कोई दो मत नहीं है। मतभेद का विषय है सीमा। आदिमकाल से लेकर अब तक विकास का चक्र चलता रहा। उसकी गति बहुत धीमी थी। बीसवीं शताब्दी में विकास की रफ्तार बहुत तेज हुई। उसका श्रेय विज्ञान को है। सृष्टि संतुलन (इकोलोजी) की समस्या का श्रेय भी विकास की आँधी को ही है। असंतुलित विकास को एक नदी का प्रवाह मानें तो बाढ़ का खतरा हो रहा है। मानवीय मूल्य और पर्यावरण—ये दोनों तटबंध टूट गए हैं। अब जल-प्रवाह की रोकथाम करना संभव नहीं है। मानवीय मूल्यों के विकास और पर्यावरण की सुरक्षा के साथ-साथ जो विकास होता है, वह संतुलित विकास है। उससे मानवीय अस्तित्व को कोई खतरा पैदा नहीं होता। आर्थिक महत्वाकांक्षा अथवा आर्थिक स्पर्धा ने मानवीय मूल्यों और पर्यावरण—दोनों की उपेक्षा की है। फलतः सृष्टि संतुलन (इकोलोजी) की समस्या उत्पन्न हुई है।

विकास के प्रति वर्तमान दृष्टिकोण सम्यक् नहीं है। वह संवेग के अतिरेक से प्रभावित है। अप्रभावित चिन्तन और अप्रभावित बुद्धि का निर्णय सही होता है। संवेग की अतिरेक दशा में चिन्तन और बुद्धि—दोनों निष्क्रिय हो जाते हैं। इस निष्क्रियता की भूमिका पर होने वाला विकास मानवीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सभ्यता और संस्कृति के लिए वरदान नहीं होता।

औद्योगिक और आर्थिक विकास ने कुछ समस्याएं सुलझाई हैं। आज रोटी, कपड़ा अधिकांश गरीबों की झोपड़ी तक पहुँच रहे हैं। मकान की समस्या अभी भी बनी हुई है। फिर भी यह कहने में संकोच नहीं होगा—आर्थिक विकास ने अमीरी को बढ़ावा देने के साथ-साथ गरीबी को भी बढ़ावा दिया है। वर्तमान में सम्पत्ति और उपभोग के साधनों पर अल्पसंख्यक व्यक्तियों का अधिकार है। बहुसंख्यक लोग उस अधिकार से वंचित हैं। विकसित राष्ट्र जितनी साधन-सामग्री का उपभोग कर रहे हैं, उससे न्यूनतर उपभोग सामग्री विकासशील राष्ट्रों के पास है और अविकसित राष्ट्रों के पास न्यूनतम। गरीबी की अनुभूति और उससे उत्पन्न असंतोष आज जितना जटिल है उतना अतीत में नहीं था। वह असंतोष प्रकृति के नियमों को भंग करने का हेतु बन रहा है। हर व्यक्ति येन-केन-प्रकारेण अमीर बनना चाहता है। उस धुन में जंगलों की कटाई हो सकती है, फैक्ट्रियों का कचरा नदियों में प्रवाहित कर जल को दूषित किया जा सकता है और भूमि का मर्यादाहीन खनन किया जा सकता है। अमीरी के लिए सब कुछ किया जा सकता है और सब कुछ हो रहा है। हम संवेगातिरेक की समस्या को सुलझाए बिना अनैतिकता अथवा अप्रामाणिकता की समस्या को नहीं सुलझा सकते। अनैतिकता की समस्या को सुलझाए बिना सृष्टि संतुलन (इकोलोजी) और पर्यावरण (इनवार्नमेन्ट) की समस्या को नहीं सुलझा सकते।

समस्या का दूसरा पक्ष

बढ़ती हुई आबादी स्वयं एक समस्या है। प्रत्येक आदमी की प्राथमिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बड़े उद्योगों की जरूरत है इसलिए विकास की सीमा को निर्धारित नहीं किया जा सकता। इस तर्क के पीछे छिपी हुई सचाई को कोई भी व्यक्ति अस्वीकार नहीं करेगा। हम समस्या के दूसरे पक्ष पर विचार करें। लोभ एक तीव्र संवेग है। उसकी प्रेरणा ने विकास की अवधारणा को जो आधार दिया है, उसे सीमित करना आवश्यक है। हमारा अभिमत है—असंतुलित संवेग और असंतुलित विकास की अवस्था में प्रकृति के साथ जीने की कल्पना कठिन हो जाती है। आज का करणीय कार्य यह है कि हम लोभ के संवेग के साथ करुणा के संवेग को जागृत करें। लोभ के संवेग को नियंत्रित करने का शक्तिशाली अस्त्र करुणा, अहिंसा या मैत्री है। महावीर ने कहा था—छोटे से छोटे जीव के अस्तित्व को अस्वीकार मत करो और अपने अस्तित्व को भी अस्वीकार मत करो। जो दूसरे जीव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के अस्तित्व को अस्वीकार करता है, वह अपने अस्तित्व को अस्वीकार करता है। जो अपने अस्तित्व को अस्वीकार करता है, वह दूसरे जीव के अस्तित्व को अस्वीकार करता है—

से बेमि—णेव सयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा, णेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा।
जे लोयं अब्भाइक्खइ, से अत्ताणं अब्भाइक्खइ।
जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ, से लोयं अब्भाइक्खइ।

दूसरे के अस्तित्व को स्वीकार करने वाला ही प्रकृति के साथ जी सकता है। कुछ चिन्तकों का तर्क है—बुद्धिमान मनुष्य प्रकृति के साथ छेड़छाड़ करता है। विकास के लिए वैसा करना जरूरी है। वह प्रकृति में होने वाली क्षति की पूर्ति करना भी जानता है, इसलिए विकास की प्रक्रिया को रोका नहीं जा सकता, उसकी कोई सीमा नहीं की जा सकती। यह चिन्तन अर्थहीन नहीं है। ऊर्जा का व्यय होता है तो उसके नए स्रोत खोजे जा सकते हैं। जंगलों की कटाई होती है तो नए जंगल तैयार किए जा सकते हैं। प्रदूषित पर्यावरण को विशुद्ध करने के तरीके खोजे जा सकते हैं। संवेग के असंतुलन और नैतिकता के मूल्यों के ह्रास की समस्या के समाधान का विकल्प क्या होगा? जैसे-जैसे विकास की गति तेज हो रही है वैसे-वैसे मनुष्य का संवेगात्मक असंतुलन बढ़ रहा है। आर्थिक अपराध से आज की चेतना जितनी ग्रस्त है, उतनी शायद पहले नहीं थी। आतंककारी मनोदशा में भी वृद्धि हुई है। क्या औद्योगिक और आर्थिक विकास इनको रोक पाएगा? इनके निरोध का उपाय खोजे बिना मनुष्य प्रकृति के साथ नहीं जी सकता, मानसिक शान्ति और विश्वशान्ति का स्वप्न भी नहीं ले सकता।

नई दिशा

विश्वविद्यालय की शिक्षा ने बौद्धिक विकास और वैज्ञानिक विकास के नए द्वार खोले हैं। हम इस युग के चिन्तन-मंथन और सुविधा की प्रचुर सामग्री से संतुष्ट हैं इसलिए निरन्तर इस दिशा में आगे बढ़ने की बात सोच रहे हैं। तनाव, भय, अपराध और मादक वस्तुओं के सेवन की प्रवृत्ति संकेत दे रही है कि मनुष्य के भीतर असंतोष है और वह असंतोष मनुष्य को प्रकृति के साथ अन्याय करने के लिए विवश कर रहा है। संतोष और असंतोष—दोनों की समीक्षा करने पर एक नई दिशा की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होता है। वह दिशा है भावात्मक अनुभूति (इमोशनल इंटेलीजेंसी) की। क्या इस दिशा में कुछ सोचना आवश्यक नहीं है? प्रकृति के साथ जीने के लिए पूरी जीवनशैली का विश्लेषण आवश्यक है। केवल भौतिक दृष्टिकोण से निर्मित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवनशैली प्रकृति के साथ जीने का आधार नहीं देती। केवल आध्यात्मिक दृष्टिकोण के आधार पर निर्मित जीवनशैली जीवनयात्रा के लिए पर्याप्त नहीं होती। जीवनशैली को सर्वांगीण बनाने के लिए नए दर्शन की जरूरत है। उसके आधार पर आर्थिक विकास, भौतिक विकास और आध्यात्मिक विकास की सामंजस्यपूर्ण प्रणाली निर्धारित की जा सकती है। उसमें बौद्धिक विकास और भावात्मक विकास के संतुलन की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

सुख की अवधारणा

जब तक इन्द्रियजन्य सुख-संवेदना के आधार पर चलने वाली जीवनशैली होगी तब तक हम प्रकृति के साथ जीने की बात संगोष्ठियों एवं संभाषणों में भले ही करें, यथार्थ के धरातल को वह प्रभावित नहीं कर पाएगी। इन्द्रिय चेतना के स्तर से ऊपर उठकर चिन्तन करने का अर्थ होगा—सुख की अवधारणा में परिवर्तन। अध्यात्म के आचार्यों ने कहा—इन्द्रिजयजन्य सुख वास्तविक सुख नहीं है। जिसका परिणाम सुखद नहीं होता, वह सुख वस्तुतः दुःख ही होता है। इस प्रसंग में सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डेविड ब्रूम के विचार बहुत मननीय हैं—

Indeed many scientists have noted that the validity of their sudden flashes of insight tends to be in inverse proportion to the amount of pleasure to which they give rise (and thetefore to the intensity of the conficition that they are true)... so it may seems in this way that there is often a true perception at a deeper level, that can not be translated into thinking. So that what is perceived is distorted and lost*.

सत्य के अंतर्दर्शन में जो सुख की अनुभूति होती है, वह बाह्य पदार्थों के अनुभव से होने वाले सुख से सर्वथा भिन्न है। ... अनुभूति के गहन स्तर पर जो सत्य का दर्शन होता है, उसका बुद्धि के स्तर पर अनुवाद नहीं किया जा सकता। अनुवाद करने का प्रयत्न करेंगे तो वह विकृत और तिरोहित हो जाएगा।

मध्यम मार्ग

प्रकृति के साथ होने वाले व्यवहार में सब वैज्ञानिक और विचारक एक

---

*डेविड ब्रूम अनपब्लिश्ड मेटेरियल—"द मूवमेन्ट ऑफ दी माइन्ड बियोन्ड थिंकिंग एण्ड फीलिंग"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मत नहीं हैं। कुछ विचारकों का मत है--प्रकृति के प्रकोप को शान्त करने की विधियां हमारे पास हैं। इसलिए पर्यावरण प्रदूषण की विभीषिका विकास की यात्रा में बाधा नहीं बन सकती।

कुछ विचारकों का मत है--प्रकृति के नियमों की हमें पूरी जानकारी नहीं है इसलिए उसके साथ अधिक छेड़छाड़ करना मानवीय एवं प्राणी मात्र के अस्तित्व के लिए खतरनाक है।

कुछ विचारकों का मत है--हम आदम युग में लौटने की बात न सोचें किन्तु आर्थिक विकास और उपभोग का संयम कर एक संतुलित जीवनशैली को विकसित करें।

यह मध्यम मार्ग है। अणुव्रत का चिन्तन इसके परिपार्श्व में चल रहा है।

समस्या का कारण

आज हिंसा को रोकने के बहुत उपाय किए जा रहे हैं। दंड-संहिता का विस्तार हो गया है, पुलिस की संख्या बढ़ गई है। सतर्कता विभाग बन गए हैं। पुलिस की शाखाएं बढ़ती जा रही हैं। पहले एक आई. जी. था। आज अनेक आई.जी. बना दिए गए। अनेक नगरों में पुलिस का जाल-सा बिछा हुआ रहता है, फिर भी अपराध बढ़ता जा रहा है, उपाय बेअसर हो रहे हैं। इसका कारण है--जिस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए, उस बात पर ध्यान नहीं दिया जा रहा है। ध्यान दिए जाने योग्य बात है असंयम।

आज मनुष्य में असंयम बढ़ रहा है। मैं एक युवक से बातचीत कर रहा था। उसने कहा--ईगो (EGO) तो होना ही चाहिए। ईगो नहीं होगा तो विकास कैसे होगा? महत्त्वाकांक्षा के बिना विकास कैसे हो सकता है? इसलिए ईगो का होना जरूरी है। मैंने कहा--ईगो का होना जरूरी है। साथ-साथ सुपर ईगो (SUPER EGO) का होना भी जरूरी है। यदि सुपर ईगो नहीं होगा तो कोरा ईगो खतरनाक बन जाएगा। ईगो और सुपर ईगो का सन्तुलन जरूरी है। अगर ईगो को हम असंयम मानें तो सुपर ईगों को संयम माना जा सकता है। ईगो असंयम है तो सुपर ईगो संयम है। अगर ईगो के साथ सुपर ईगो नहीं है तो हिंसा का होना अनिवार्य है।

आज असंयम के कारण समस्याएं बढ़ रही हैं। इसी असंयम को ध्यान में रखकर महावीर ने कहा था--हिंसा मृत्यु है। इसका हार्द है--जब-जब असंयम बढ़ता है, हिंसा की समस्या विकराल बन जाती है। वह मनुष्य के लिए मौत बन जाती है। हिंसा मृत्यु कैसे हुई? इस तथ्य को हम विज्ञान के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ में समझें। आज पर्यावरण पर बहुत चर्चा हो रही है। वैज्ञानिकों का मानना है—यदि पर्यावरण का असन्तुलन बढ़ता रहा तो एक दिन मनुष्य-जाति समाप्त हो जाएगी। केवल मनुष्य ही नहीं, प्राणी जगत भी समाप्त हो जाएगा।

दो भविष्यवाणियां

एक भविष्यवाणी है आज की और एक है ढाई हजार वर्ष पुरानी। मैंने हिन्दुस्तान में एक लेख पढ़ा। उसमें विश्व के भविष्य की स्थिति का चित्रण था। ढाई हजार वर्ष पहले रचित भगवती सूत्र में विश्व के बारे में ऐसी ही भविष्यवाणी की गई है। फ्रांस, अमेरिका आदि देशों के भविष्यवक्ताओं की अनेक भविष्यवाणियां छपी हैं किन्तु भगवती सूत्र की यह भविष्यवाणी अभी तक प्रकाश में नहीं आई है। वैज्ञानिक जगत द्वारा प्रलय के सन्दर्भ में की जा रही भविष्यवाणी को भगवती सूत्र के सन्दर्भ में पढ़ें तो सहज ही यह प्रश्न उभरेगा—क्या यह लेख भगवती सूत्र को देखकर लिखा गया है? या यह विकल्प उठेगा—इस लेख में जो लिखा गया है, वह भगवती सूत्र के प्रणेता ने हजारों वर्ष पहले लिख दिया? भाव ही नहीं, कहीं-कहीं भाषा भी समान है।

लेख की भाषा है—आज पर्यावरण का सन्तुलन बिगड़ रहा है। इसका एक कारण है—नाभिकीय विस्फोट। वैज्ञानिक बतलाते हैं—यदि नाभिकीय युद्ध हुआ, अणुयुद्ध हुआ तो विश्वस्थिति में भारी परिवर्तन आएगा। सारी धरती और सारा आकाश धूल से भर जाएगा। कहीं तापमान कम हो जाएगा, कहीं तापमान बहुत अधिक बढ़ जाएगा। सारा जल और स्थल भूभाग विषाक्त बन जाएगा। जीव जगत बिल्कुल नष्ट हो जाएगा। कहीं भयंकर सर्दी पड़ेगी, कहीं भयंकर गर्मी। सारे हिमखंड पिघल जायेंगे। समुद्र का जल स्तर दो-तीन मीटर ऊँचा चला जाएगा। समुद्र तट पर बसे नगर और बस्तियां डूब जाएंगी, उसके आस-पास का स्थल भूभाग जलमय बन जाएगा। एक प्रकार से हिमयुग आएगा, केवल पानी ही पानी दिखाई देगा। यह नाभिकीय विस्फोट और अणुयुद्ध से बनने वाली स्थिति है।

दूसरा कारण है—वनों की अंधाधुंध कटाई। सारे संसार में वनों की अंधाधुंध कटाई हो रही है। उसके कारण कार्बन-डाई-आक्साइड की मात्रा पच्चीस प्रतिशत बढ़ गई है। जितनी कार्बन-डाई-आक्साइड की मात्रा बढ़ती है उतना ही वातावरण भयंकर हो जाता है, तापमान की मात्रा बढ़ जाती है। इतनी गैसें जलाई जा रही हैं कि जिनके कारण वातावरण कार्बन-डाई-आक्साइड से भर गया है। ओजोन की छतरी, जो एक सुरक्षा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कवच है, टूटती चली जा रही है। कुछ देशों के इन करतवों का परिणाम सारे विश्व पर पड़ रहा है।

यह सारी स्थिति एक प्रलय की स्थिति है। क्या इस सन्दर्भ में हम यह न कहें—हिंसा मृत्यु है? क्या यह कहें—हिंसा मृत्यु नहीं है? जिस स्थिति में एक आदमी का नहीं, दो-तीन-चार का नहीं किन्तु पूरे जगत का विनाश छिपा है, क्या उसको मृत्यु कहना अतिश्योक्ति है? एस खलु मारे—हिंसा मृत्यु है—इस वाक्य को वैज्ञानिक सन्दर्भ में साथ पढ़ें तो लगेगा—यह कितना व्यापक सूत्र है। बिना सन्दर्भ यह सूत्र सामान्य लगता है किन्तु विज्ञान के सन्दर्भ में यह सूत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन जाता है। यह पर्यावरण विज्ञान का सूत्र है। पर्यावरण का सन्तुलन बिगड़ा और संसार के लिए मौत का निमंत्रण आ गया। प्रश्न है—यह सन्तुलन क्यों बिगड़ रहा है? इसका कारण है—मनुष्य में असंयम बढ़ गया है। वह इतना धन चाहता है, इतना सुख चाहता है, इतनी सुविधा चाहता है कि उसके लिए सब कुछ करने को तैयार है। वनों की कटाई क्यों हो रही है? पैसे के लोभ के कारण वन कट रहे हैं। बड़े-बड़े ठेकेदारों और अधिकारियों की मिलीभगत से निषिद्ध वन खुले आम काटे जा रहे हैं। कोई रोकने वाला नहीं है, कोई टोकने वाला नहीं है, इधर भी पैसे का लोभ है, उधर भी पैसे का लोभ है। यह धन का लोभ, यह असंयम, वनों को नष्ट कर रहा है। इसका परिणाम है ऑक्सीजन की कमी और कार्बन की अधिकता।

असंयम के कारण ही खनिज का अतिरिक्त दोहन हो रहा है। इस वैज्ञानिक युग में जीने वाले वैज्ञानिक और भौतिक मनुष्य क्या भविष्य की कल्पना नहीं करते? क्या खनिज का अतिरिक्त दोहन कर वे भावी पीढ़ियों को दरिद्र नहीं बना रहे हैं? जो खजिन सम्पदा हजारों वर्षों तक काम आ सके, यदि वह सौ वर्षों में समाप्त हो जाए तो क्या स्थिति होगी? आने वाली पीढ़ी रोएगी, वह कहेगी—हमारे पूर्वजों ने हमारे साथ क्या किया, हमें बिल्कुल दरिद्र और निकम्मा बना दिया।

पर्यावरण विज्ञान का एक सूत्र है—लिमिटेशन। पदार्थ की सीमा है। कोई भी पदार्थ असीम नहीं है। क्या पदार्थ की सीमा का यह सूत्र संयम का सूत्र नहीं है? पर्यावरण विज्ञान का दूसरा महत्त्वपूर्ण सूत्र है—पदार्थ सीमित है, इसलिए उपभोग कम करो। पदार्थों का उपभोग कम हो, पानी का व्यय कम किया जाए, उपभोग का संयम किया जाए, यह सूत्र धर्म का नहीं, पर्यावरण विज्ञान का है किन्तु सचाई दोनों में एक है। धर्म का आदमी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहेगा—कम खर्च करो, संयम करो। पर्यावरण विज्ञानी की भाषा है—पदार्थ कम हैं, उपभोक्ता अधिक हैं, इसलिए भोग की सीमा करो। महावीर ने भोगोपभोग के संयम का जो व्रत दिया, वह पर्यावरण-विज्ञान का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। पदार्थ ज्यादा काम में मत लो, अनावश्यक चीज को काम में मत लो, यह है संयम और इसी का नाम अहिंसा है, पर्यावरण विज्ञान है।

भविष्यवाणी भगवती की

हम भगवती का प्रकरण पढ़ें। जैन काल-गणना के अनुसार अभी पांचवां आरा चल रहा है। जब पाँचवां आरा (कालखण्ड) पूरा होने वाला होगा, छठा आरा प्रारम्भ होगा तब इस विश्व में विचित्र स्थितियां बनेंगी। उस समय की स्थिति का वर्णन लोमहर्षक है। सबसे पहले समवर्तक वायु चलेगी। वह इतना प्रलयंकारी होगा कि पहाड़ भी प्रकम्पित हो जायेंगे। इस युग में भी कभी-कभी चक्रवात आते हैं, उसमें बैलगाड़ियां, कारें उड़ जाती हैं, वृक्षों में अटक जाती हैं। वह समवर्तक वायु इतनी भयंकर होगी कि पहाड़ और गांव नष्ट हो जायेंगे, उनका अस्तित्व ही विलुप्त हो जाएगा। तीव्र आंधियां चलेंगी, जिनसे सारा आकाश और सारी धरती धूल से भर जाएगी। चन्द्रमा इतना ठण्डा हो जाएगा कि रात को कोई आदमी बाहर नहीं निकल पाएगा। सूर्य इतना गर्म होगा, इतना तप्त होगा कि आदमी झुलस जाएंगे। भयंकर ठण्ड और भयंकर गर्मी। बारिश भी होगी, पानी की नहीं, अग्नि की वर्षा होगी। अंगारे बरसेंगे। आज कहा जा रहा है—जब परमाणु विस्फोट होगा, नाभिकीय युद्ध होगा तब आकाश अग्नि की लपटों से भर जाएगा, जीव जगत प्रायः समाप्त हो जाएगा। जो बचेंगे, वे अन्धे, बहरे और रुग्ण रहेंगे।

भगवती सूत्र में कहा गया—जो मेघ बरसेंगे, वे रोग बढ़ाने वाले होंगे। उसका परिणाम होगा—मनुष्य, पशु, पक्षी, वनस्पति, कीड़े-मकोड़े नष्ट हो जाएंगे। पहाड़ों में केवल एक वैताढ्य पर्वत बचेगा, जिसे आज हिमालय कहा जाता है। शेष सारे पहाड़, अरावली और विध्यांचल की घाटियां अपना अस्तित्व खो देंगी। जो कुछ लोग बचेंगे, वे हिमालय की गुफाओं में रह जाएंगे। वे न दिन में बाहर निकल सकेंगे, न रात में बाहर निकल सकेंगे। केवल संधिकाल में थोड़े समय के लिए बाहर आ पाएंगे। नदियां प्रायः सूख जाएंगी। केवल गंगा और सिन्धु का थोड़ा-सा तट अवशेष रहेगा। वे बचे लोग कुछ मछलियां खाकर जैसे-तैसे अपने जीवन का यापन करेंगे। जैसे चूहे बिलों में पड़े रहते हैं वैसे ही मनुष्य पहाड़ की गुफाओं में दुबके रहेंगे। यह भूमि अंगारों के समान तप्त हो जाएगी। सारी भूमि तप उठेगी। अंगारों पर चलना और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूमि पर चलना एक समान लगेगा।

भगवती सूत्र का यह वर्णन क्या परमाणु युद्ध से पैदा होने वाली स्थिति का वर्णन नहीं है? उन्होंने पहले कैसे देखा कि ऐसा कुछ होने वाला है? आज जो चल रहा है, उससे ऐसा लगता है—आदमी ठीक उसी दिशा में चल रहा है। आज का वैज्ञानिक और राजनेता हिंसा की दिशा में जा रहा है, इसका अर्थ है—मौत की दिशा में जा रहा है।

काल की उदीरणा न हो जाए

आज सारे वैज्ञानिक भविष्य के प्रति चिंतित हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन के लोग अनेक बार यह घोषणा करते हैं—वनों की कटाई कम करें, पदार्थ और जल का सीमित प्रयोग करें। वैज्ञानिक स्तर पर आने वाली इन चेतावनियों के बावजूद सब कुछ वैसा ही चल रहा है। सब लोग वैसे ही कर रहे हैं, सरकारें भी वैसे ही चलती जा रही हैं। पैसे का लोभ सरकार को भी है, जनता को भी है, ठेकेदारों और अधिकारियों को भी है। इस पैसे के चक्र में, लोभ और असंयम के चक्र में सब फँसे हुए हैं। पर्यावरण प्रदषूण के प्रति बहुत चिन्ता दर्शायी जा रही है, किन्तु इसकी क्रियान्विति की चिन्ता नहीं है। जब तक अहिंसा और संयम का मार्ग समझ में नहीं आएगा तब तक पर्यावरण की बात समझ में नहीं आएगी, पर्यावरण की समस्या सुलझेगी नहीं।

पाँचवें कालखण्ड की काल-अवधि है—इक्कीस हजार वर्ष। कहीं काल की उदीरणा न हो जाए, इक्कीस हजार वर्ष बाद आने वाली स्थिति इक्कीसवीं शताब्दी में ही न आ जाए? क्योंकि वैज्ञानिक उद्घोषणा है—इक्कीसवीं शताब्दी का मध्य दुनिया के लिए भयंकर होगा। उसमें केवल पचास वर्ष बच रहे हैं। जो पीढ़ी आज जन्म ले रही है, वह इस भयंकरता से गुजरेगी। यदि हम नहीं संभले तो सामने दिखने वाला खतरा भयंकर बन जाएगा। सम्भव है, काल की उदीरणा हो जाए। काल कर्म की उदीरणा में निमित्त बनता है तो हो सकता है, शायद कर्म भी कभी-कभी काल की उदीरणा में निमित्त बन जाए।

समाधान-सूत्र

इस समस्या के जो समाधान-सूत्र हैं, वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। पुराने लोग कहा करते थे—जल को घी की तरह बरतो। यह अवधारणा थी—असंख्य जीव मरते हैं तो जल की एक बूँद काम आती है। जल की एक बूँद में असंख्य जीव होते हैं। धर्म का तत्त्व समझाते हुए बच्चों को कहा जाता था—देखो! एक गिलास पानी में तुम्हारे न जाने कितने मां-बाप हैं। इसका मतलब होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

था—अनन्तकाल से परिभ्रमण करते हुए इस जीव ने कितने माँ-बाप बनाए हैं। जिनकी हिंसा की जा रही है, उसमें न जाने कितने पुराने पुरखे अपने हैं। ऐसी बातें कहकर पानी का घी की तरह उपयोग करने का रहस्य समझाया जाता। रूपचन्दजी सेठिया जैसे व्यक्ति पच्चीस तोला से अधिक पानी स्नान में काम नहीं लेते थे। पुरानी पीढ़ी के लोग एक-आध बाल्टी में स्नान कर लेते थे। आजकल ऐसा करना समझदारी की बात नहीं मानी जाती। जब तक व्यक्ति नल के नीचे न बैठ जाए, दस-बीस बाल्टियां शरीर पर न ढुल जाएं तब तक अच्छा स्नान नहीं होता।

आज असंयम कितना बढ़ गया है। हर बात में असंयम है। बिजली का कितना अनावश्यक उपयोग हो रहा है। बत्ती जला देते हैं और वह सारी रात जलती रहती है। क्या सारी रात बत्ती का प्रकाश जरूरी है? पंखा चलाते हैं और दिन-रात पंखा चलता रहता है। क्या यह असंयम नहीं है? बिजली जले तो दिन-रात जले और पानी बहे तो दिन-रात बहे। कितना प्रबल है असंयम। इस स्थिति में ओजोन की छतरी कैसे नहीं टूटेगी। कार्बन की मात्रा कैसे नहीं बढ़ेगी? ऑक्सीजन में कमी क्यों नहीं आएगी? पर्यावरण का सन्तुलन क्यों नहीं बिगड़ेगा?

हम इस सचाई को समझें। भगवान महावीर ने कहा—इस सचाई को जानकर मेधावी पुरुष यह संकल्प ले—मैंने हिंसा और असंयम बहुत किया। मैं वह अब नहीं करूंगा। मैं अब अहिंसा और संयम की साधना करूंगा। जैसे-जैसे यह संकल्प बलवान बनता है, शक्तिशाली बनता है वैसे-वैसे व्यक्ति में परिवर्तन आना शुरू हो जाता है। जैसे-जैसे संयम बढ़ेगा, असंयम कम होगा, कठिनाइयां भी कम होंगी।

हम जितना संयम करेंगे, समस्या उतनी ही छोटी होती चली जाएगी। वह लम्बी नहीं बनेगी, भयंकर और विकराल नहीं होगी। यदि आज सचमुच विश्व को पर्यावरण सन्तुलन की चिन्ता है, उससे होने वाले परिणामों की चिन्ता है तो उसके लिए धर्म का पाठ, अहिंसा और संयम का पाठ समझना सबसे ज्यादा जरूरी है। संयम की बात केवल मोक्ष के सन्दर्भ में ही नहीं कहीं गई है, जीवन के सन्दर्भ में भी वह बहुत मूल्यवान है। इस सचाई को वर्तमान युग की समस्याओं के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया जाए, अधर्म और हिंसा से उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों और कठिनाइयों के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया जाए तो प्रत्येक व्यक्ति धर्म का मूल्यांकन करेगा, अहिंसा और संयम का मूल्यांकन करेगा, धर्म की बात बहुत व्यापक बन जाएगी। धर्म का एक सूत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है—अतीत की भूलों को न दोहराना। प्रत्येक व्यक्ति यह संकल्प ले—मैंने अब तक जो भूलें की हैं, उन्हें पुनः नहीं करूंगा, जो प्रमादवश किया है, उसकी पुनरावृत्ति नहीं होगी। यह संकल्प समस्या के सघन तिमिर में समाधान का दीप बन सकता है।

मूल शस्त्र है भाव

शस्त्र और हिंसा को पर्यायवाची माना जा सकता है। जहां-जहां शस्त्र है वहां-वहां हिंसा है, जहां जहां अशस्त्र है वहां-वहां अहिंसा है। जब प्रस्तर युग था तब पाषाण के अस्त्र बने, पत्थर के शस्त्र बने। कभी मिट्टी का ढेला फेंका गया, वह भी एक शस्त्र था। लोहे का युग आया, लोहे के शस्त्र बने, तलवारें बनीं। बारूद का युग आया, बन्दूकें बनीं, गोलियां बनीं, तोपें बनीं। क्रमशः शस्त्र का विकास होता चला गया। विकास होते-होते अणुबम और हाइड्रोजन बम का युग आया, अणु शस्त्र बने, बनते चले जा रहे हैं।

इन शस्त्रों का विकास क्रमशः हुआ है पर एक शस्त्र स्थाई है, जो पहले भी था, आज भी है और भविष्य में भी रहेगा। वही शस्त्र इन सब शस्त्रों का निर्माण कर रहा है। वह कभी बदलता नहीं है, स्थाई है और वह है असंयम। महावीर की भाषा में वह भाव-शस्त्र है। आचारांग सूत्र में षड्जीवनिकाय के लिए नाना प्रकार के शस्त्रों का निरूपण किया गया है। आज एक सामान्य आदमी शस्त्र शब्द आते ही तलवार, बन्दूक या लाठी पर गौर करेगा किन्तु पानी एक शस्त्र है, यह कल्पना वह नहीं कर सकता। महावीर ने कहा—पानी मिट्टी का शस्त्र है। वायु अग्नि का शस्त्र है। महावीर ने बहुत गहरे में जाकर शस्त्रों का सूक्ष्मता से प्रतिपादन किया। उनकी भाषा में जो शस्त्र है, उसकी सूक्ष्मता की कल्पना तक पहुंचने में दार्शनिकों को भी बहुत समय लगा है। हो सकता है वैज्ञानिकों को उस गहराई तक पहुंचने में कई शताब्दियां और लग जाएं।

सब शस्त्रों के मूल में जो शस्त्र है, वह है भाव-शस्त्र। मिट्टी मिट्टी का शस्त्र है, इसे बाह्य शस्त्र माना गया है। यह वास्तविक शस्त्र नहीं है। वास्तविक शस्त्र है भाव-शस्त्र और वह है असंयम। प्राणी के अन्तःकरण में जो असंयम है, वही वास्तविक शस्त्र है और वही इन सारे शस्त्रों का निर्माण कर रहा है। अगर असंयम न हो तो कोई शस्त्र बनता ही नहीं।

आज निःशस्त्रीकरण का प्रश्न बलवान बना हुआ है। शक्ति-सम्पन्न देश प्रक्षेपास्त्रों को कम करें, दूर या लघु मार करने वाले प्रक्षेपास्त्रों को कम करें, टैंकों को समाप्त करें, यह चर्चा का मुख्य विषय बना हुआ है, पर इन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सबके पीछे जो चर्चा होनी चाहिए, वह नहीं हो रही है। इन सबके मूल में असंयम है और उसे कम करने की चर्चा बहुत कम चलती है। केवल कुछ प्रक्षेपास्त्रों को कम करने से निःशस्त्रीकरण की बात सम्भव नहीं बनेगी। एक शासक शस्त्रों को कम करने की बात करता है तो दूसरा शासक शस्त्रों को बढ़ाने की बात करता है। जब तक असंयम को कम करने की ओर मनुष्य समाज का ध्यान आकर्षित नहीं होगा तब तक निःशस्त्रीकरण की बात सफल नहीं बन पाएगी। भगवान महावीर ने भाव-शस्त्र पर, असंयम पर बहुत बल दिया। उन्होंने कहा—मूल जड़ को पकड़ो, असंयम को कम करो। असंयम कम होगा तो बन्दूकें, तोपें, तलवारें मनुष्य के लिए खतरनाक नहीं बनेंगी।

मनुष्य और वनस्पति

मनुष्य और वनस्पति—दोनों हमसाथी हैं। वनस्पति के बिना मनुष्य का जीवन सम्भव नहीं है किन्तु मनुष्य के बिना वनस्पति का जीवन सम्भव हो सकता है। हम आदिम युग को देखें, यौगलिक युग को देखें। उस समय जीवन की सारी आवश्यकताएं कल्पवृक्ष पर निर्भर थीं। वह प्रत्येक कल्पना को पूरा करने वाला वृक्ष था। यौगलिक जीवों की अपेक्षाएं—भोजन, वस्त्र आदि कल्पवृक्ष से पूरी होतीं। मकान, आभूषण, मनोरंजन के साधन, शृंगार, साज-सज्जा, रहन-सहन, सब कुछ कल्पवृक्ष पर आश्रित था। कल्पवृक्ष के बिना यौगलिक जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यौगलिक युग के बाद मनुष्य ने साथ-साथ रहना सीखा, गाँव बसाना सीखा, मकान बनाना सीखा, खेती करना सीखा। पहले कल्पवृक्ष ही उनका मकान था। यौगलिक युग के अन्तिम समय में पहला मकान बना। मकान का नाम था अगार। पहला मकान लकड़ी से बना। अग—वृक्ष से बना इसलिए मकान का नाम अगार हो गया। उस समय न ईंटें थीं, न चूना था। पूरा मकान लकड़ी से निर्मित हुआ।

जीवन की आवश्यकताएं बढ़ीं। मनुष्य ने कपड़ा बनाना शुरू किया। पहला कपड़ा रुई से बना। उसका प्रणयन भी वनस्पति जगत पर आधृत था। खाने की पूर्ति का स्रोत भी वनस्पति जगत था। उसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य ने कृषि—खेती करना प्रारम्भ कर दिया। एक अंतर आ गया—केवल कल्पवृक्ष पर जो निर्भरता थी, वह उससे हटकर वनस्पति जगत पर निर्भर बन गई। प्रवृत्ति का विस्तार होता चला गया। मकान और वस्त्र बनने लगे, फसलें उगने लगीं। जीवन का एक नया दौर शुरू हो गया, किन्तु सब कुछ वनस्पति जगत पर निर्भर बना रहा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हम समाज के इतिहास को देखें। मनुष्य जगत और वनस्पति जगत दोनों साथ-साथ जीते रहे हैं। मनुष्य पहले जंगलों में वृक्षों के बीच रहता था। आजकल अधिकांश लोग शहरों में रहना पसन्द करते हैं। हमने देखा—शहरों में बड़ी-बड़ी कोठियां बनी हुई हैं, किन्तु उनके चारों ओर छोटे-छोटे उद्यान लगे हुए हैं। प्रश्न हो सकता है—कोठी के सामने बगीचा क्यों? ऐसा लगता है—आदमी ने जंगल को छोड़ा, गाँव बसाया। उसका गाँव में मन नहीं लगा इसलिए उसे गाँव में पुनः जंगल बनाना पड़ा।

वस्तुतः पेड़ के बिना आदमी का मन ही नहीं लगता। एक व्यक्ति को कविता बनाना है। यदि पेड़ के नीचे बैठ जाए तो अपने आप कल्पना आने लग जाएगी। पेड़ के नीचे कागज-कलम लेकर लिखना शुरू करें, कहानी बन जाएगी। जब हरा-भरा फल-फूलों से लदा हुआ वृक्ष आँखों को दिखाई देता है तो एक सूखा आदमी भी सजल बन जाता है, सरस बन जाता है।

वनस्पति हमारी प्राणशक्ति का मुख्य आधार है। किसी व्यक्ति को कुछ देर के लिए काल-कोठरी में बन्द कर दिया जाए तो उसका दम घुटने लग जाएगा। जब व्यक्ति प्रातःकाल उद्यान में भ्रमण के लिए जाता है, तब उसके तन, मन और भाव—सब स्वस्थ बन जाते हैं। मनुष्य जगत और वनस्पति जगत का इतना गहरा सम्बन्ध रहा है, फिर भी मनुष्य के मन में उसके प्रति करुणा का अभाव बना हुआ है। मनुष्य के मन में एक क्रूरता छिपी हुई है। जिस वनस्पति जगत से वह इतना कुछ पा रहा है, उसके प्रति जो करुणा, कोमलता, सहृदयता, हमदर्दी और भाईचारा होना चाहिए, वह उसके मन में नहीं है। जो जीवन के साथी हैं, जीवन देने वाले हैं, उनके प्रति भी दयालुता नहीं है। यह एक विडम्बना है।

भगवान महावीर ने वनस्पति और मनुष्य की जो समानताएं प्रस्तुत की हैं, उन्हें आज विज्ञान प्रमाणित कर चुका है। महावीर की भाषा में मनुष्य और वनस्पति की समानता का रूप यह है—

मनुष्य	**वनस्पति**
मनुष्य जन्मता है।	वनस्पति भी जन्मती है।
मनुष्य बढ़ता है।	वनस्पति भी बढ़ती है।
मनुष्य चैतन्ययुक्त है।	वनस्पति भी चैतन्ययुक्त है।
मनुष्य छिन्न होने पर	वनस्पति भी छिन्न होने पर
क्लान्त होता है।	क्लान्त होती है।
मनुष्य आहार करता है।	वनस्पति भी आहार करती है।
क्लान्त होता है।	क्लान्त होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य अनित्य है।	वनस्पति भी अनित्य है।
मनुष्य अशाश्वत है।	वनस्पति भी अशाश्वत है।
मनुष्य उपचित और	वनस्पति भी उपचित और
अपचित होता है।	अपचित होती है।
मनुष्य विविध अवस्थाओं को	वनस्पति भी विविध अवस्थाओं
प्राप्त होता है।	को प्राप्त होती है।

अभय का अवदान

महावीर ने कहा—सब जीवों को अपने समान समझो। वनस्पति के संदर्भ में भी उनका यही प्रतिपादन था—तुम देखो। वनस्पति दूसरे जीवों की अपेक्षा तुम्हारे अधिक निकट है। पृथ्वी, अप्, तैजस, वायु आदि के जीवों को समझना कुछ कठिन है किन्तु वनस्पतिकाय को समझना आसान है। तुम इसे समझो, इस पर मनन करो। मनन कर अभय-दान दो।

जिससे तुम्हें जीवन मिल रहा है, उसे भी तुम भय दे रहे हो। तुम उसे सताना छोड़ दो। यह सत्य है—तुम्हारी आवश्यकताएं उस पर निर्भर हैं। तुम खाए बिना नहीं रह सकते किन्तु तुम कम से कम उसे अनावश्यक मत सताओ। मन में यह भावना रखो—यह हमारा उपकार करने वाला जगत है। इसके प्रति तुम्हारा जो क्रूर व्यवहार होता है, उसके लिए क्षमा-याचना करो। तुम्हें आवश्यकतावश किसी पेड़ की टहनी को काटना पड़ा है, किसी वनस्पति को खाना पड़ा है जो तुम उसके प्रति मन में क्षमा-याचना करो। तुम्हारे मन में यह भाव जागे—विवशता के कारण मैं वनस्पति जगत का उपभोग कर रहा हूं। मेरी विवशता के लिए वह मुझे क्षमा करे। यह भाव कृतज्ञता का भाव होगा।

महावीर ने जो कहा, उसका हार्द है—वनस्पति जगत के प्रति करुणा, सहयोग, सहृदयता, कृतज्ञता और क्षमायाचना का भाव होना चाहिए। बहुत सारे लोग पेड़ों को काटकर बीमार हो जाते हैं। उन्हें पता ही नहीं चलता—यह बीमारी क्यों आई? जापान का एक रहस्यविद् हुआ है—डॉ. हिरोशी मोकोयामा। उसने एक रोगी को देखा। उसकी बीमारी का कोई पता नहीं चला। मोकोयामा ने पूछा, 'तुम्हारी सास की मौत हुई है?

'हां'

'तुम्हारे घर के सामने कोई पुराना पेड़ है?'

'हां'

'बस, यही है तुम्हारी बीमारी का कारण। कुछ लोग उस पेड़ को काटना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहते हैं। उस पेड़ में एक विचित्र आत्मा रहती है और उसी की चेतावनी है तुम्हारी यह बीमारी।'

डॉक्टर की बात सही निकली। कुछ दिनों बाद तूफान आया और वह पेड़ उखड़ गया। उसने उसी स्थान पर एक नया पेड़ लगा दिया। उसी दिन से बीमारी ठीक होने लगी और कुछ ही दिनों में वह व्यक्ति स्वस्थ हो गया।

कुछ मृतात्माओं के निवास-स्थान भी ये पेड़ होते हैं। गुरु-धारणा करते समय एक जैन श्रावक यह नियम स्वीकार करता है—मैं बड़े वृक्ष को नहीं काटूंगा। यह बहुत महत्त्वपूर्ण स्वीकृति है। विश्नोई समाज ने पेड़ों के लिए जो काम किया है, वह बहुत अद्भुत है। विश्नोई समाज में यह मान्यता प्रचलित है—एक पेड़ को काटना दस लड़कों को मारने के समान है। विश्नोई समाज के पुरखों ने पेड़ों की सुरक्षा के लिए अपने जीवन का बलिदान कर दिया। जब जोधपुर के राजा ने पेड़ कटवाने शुरू किए तब विश्नोई समाज के लोगों ने सत्याग्रह कर दिया। उन्होंने कहा—पहले हम मरेंगे फिर पेड़ कटेंगे। पेड़ को विनाश से बचाने के लिए अनेक लोगों ने अपने प्राणों की आहुति दे दी।

हम इस सचाई को समझें—जितने पेड़ कटेंगे उतना ही मनुष्य का जीवन असुरक्षित बनेगा। पेड़ काटने का अर्थ है—हिंसा और अपने सहयोगी का विनाश। पेड़ काटने में हिंसा तो होती ही है किन्तु उसके साथ-साथ जीवन को भी खतरा पैदा हो जाता है। वनस्पति और मनुष्य—दोनों का अस्तित्व इतना जुड़ा हुआ है कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। आज मनुष्य इस सचाई की अनदेखी कर रहा है। वह लोभ के कारण बिना सोचे-समझे वनस्पति जगत के साथ घोर अन्याय और क्रूरता का व्यवहार करता चला जा रहा है और यही उसके लिए समस्या का कारण बन रहा है।

विराम कहां होगा?

भगवान महावीर ने हिंसा के दो प्रकार बतलाए—अर्थ हिंसा और अनर्थ हिंसा। यह वैज्ञानिक वर्गीकरण है। दोनों शब्द जीवन के व्यवहार से जुड़े हुए हैं। व्यक्ति आवश्यक हिंसा को नहीं छोड़ सकता, जीवन की वास्तविक जरूरतों को कम नहीं कर सकता, किन्तु अनावश्यक हिंसा से बच सकता है, कृत्रिम जरूरतों का संयम कर सकता है। वास्तविक आवश्यकता और कृत्रिम आवश्यकता को समझना जरूरी है। प्राकृतिक चिकित्सा में दो प्रकार की भूख मानी जाती है—प्राकृतिक भूख और कृत्रिम भूख। प्राकृतिक भूख सहज लगने वाली भूख है। भस्मक रोग को कृत्रिम भूख माना गया है। जो व्यक्ति भस्मक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रोग से ग्रस्त होता है, उसकी भूख दिन में सौ-सौ रोटियां खाने पर भी नहीं मिटतीं। इस कृत्रिम भूख—भस्मक व्याधि का कभी अन्त नहीं आता। वह व्यक्ति एवं समाज के लिए समस्या बन जाती है।

आज के समाजशास्त्रियों और अर्थशास्त्रियों ने कृत्रिम भूख को बढ़ा कर पूरे मानव समाज को संकट में डाल दिया है। अर्थशास्त्र का सूत्र है—इच्छा को बढ़ाते चले जाओ। आज इस गलत सूत्र के परिणामस्वरूप हिंसा बढ़ रही है, पर्यावरण का सन्तुलन विनष्ट हो रहा है। आवश्यकता की पूर्ति करना जरूरी है, इस बात को उचित माना जा सकता है, किन्तु आवश्यकताओं को पैदा करना और उनकी पूर्ति करते चले जाना युक्ति-संगत नहीं है। आवश्यकता की उत्पत्ति और उसकी पूर्ति का एक चक्र है। उस चक्र का कहीं अंत नहीं होता। इस सचाई से साधारण लोग भी परिचित रहे हैं। राजस्थानी का प्रसिद्ध दोहा है—

तन की तृष्णा तनिक है, तीन पाव के सेर।
मन की तृष्णा अनन्त है, गिलै मेर का मेर।।

वर्तमान जगत में जिस सचाई का प्रतिपादन किया जा रहा है, उससे यह सचाई भिन्न है। आवश्यकता की पूर्ति को अनुचित नहीं माना जा सकता, किन्तु प्रश्न है—मनुष्य की शारीरिक आवश्यकताएं कितनी हैं? वे बहुत सीमित हैं। यदि आवश्यकता के आधार पर चला जाता तो दुनिया के सामने पर्यावरण का संकट पैदा नहीं होता, पर्यावरण की समस्या से विश्व संत्रस्त नहीं होता। व्यक्ति ने तन के स्थान पर मन की तृष्णा को बिठा दिया। जब मन की तृष्णा जाग जाती है तब आवश्यकताएं बढ़ती चली जाती हैं। तृष्णा और इच्छा का कोई अन्त नहीं है, कोई सीमा नहीं है। महावीर ने कहा—इच्छा हु आगाससमा अणंतिया—इच्छा आकाश के समान अनन्त है। जब इच्छा अनंत और असीम बन जाती है तब विनाश अवश्यंभावी बन जाता है।

आज विश्व विनाश के कगार पर खड़ा है। इसका कारण है अर्थशास्त्र का अनसोचा-अनसमझा सिद्धान्त। अर्थशास्त्र का अभिमत है—जितनी इच्छा बढ़ेगी, उतना ही उत्पाद बढ़ेगा, उतनी ही समृद्धि बढ़ेगी। इस सिद्धान्त ने सचमुच विनाश को निमंत्रण दे दिया है। अगर अर्थशास्त्र का यह सिद्धान्त नहीं होता तो इकोलॉजी के विकास की जरूरत ही नहीं होती। आज सृष्टि-संतुलन के लिए प्रयत्न किये जा रहे हैं। लोग चाहते हैं—सृष्टि का संतुलन न गड़बड़ाए। किन्तु जब तक अर्थशास्त्र का यह सिद्धान्त व्यक्ति के जीवन-व्यवहार को संचालित कर रहा है तब तक सृष्टि- सन्तुलन की चिन्ता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को समाधान नहीं मिलेगा। सृष्टि-सन्तुलन के लिए, पर्यावरण के लिए अर्थशास्त्र की वर्तमान अवधारणाओं को बदलना होगा। उन्हें बदले बिना इन समस्याओं को समाहित नहीं किया जा सकता।

इच्छा बढ़ाओ, उत्पादन बढ़ाओ—इस गलत अवधारणा के कारण ही वनस्पति जगत के साथ अन्याय हो रहा है। आज विकास के कृत्रिम साधनों ने प्रकृति के साथ अन्यायपूर्ण और क्रूर बरताव शुरू किया है। इसका विराम कहां होगा, कहा नहीं जा सकता।

प्रश्न है संवेदन का

सारा संसार जीवों से भरा पड़ा है। जब तक अहिंसा की बात करने वाला इस सचाई को जान न ले, सूक्ष्म जीवों के नियमों को न जान ले तब तक वह अहिंसा की बात को पूरा कैसे जानेगा? इसीलिए कहा गया है—जो जीव को नहीं जानता, अजीव को नहीं जानता, वह संयम और अहिंसा को कैसे जानेगा?

जो जीवे वि न याणाई, अजीवे वि न याणई।
जीवाजीवे अयाणंतो, कहं से नाहिई संजमं।।

पहले यह ज्ञान कर लेना आवश्यक है कि जीव क्या है? अजीव क्या है? जीव और अजीव को जानने के बाद अहिंसा की बात सहज समझ में आ सकती है।

एक प्रश्न और उभरता है—जो सूक्ष्म जीव हैं, वे संवेदनशील हैं। क्या उन्हें सुख-दुःख होता है? सूक्ष्म जीव अत्यन्त सूक्ष्म हैं, एक मिट्टी की डली में असंख्य जीव हैं, वनस्पति के छोटे से कतरे में अनंत जीव हो सकते हैं। उनकी चेतना भी व्यक्त नहीं है। क्या उन्हें सुख-दुःख का संवेदन होता है? इस प्रश्न पर भी अहिंसा के सन्दर्भ में विचार किया गया। इन सूक्ष्म जीवों को सुख-दुःख का संवेदन होता है, यह समझना भी बड़ा कठिन था। भगवान महावीर ने कहा—यह सही है कि इन छोटे जीवों की चेतना अव्यक्त होती है। इनमें इन्द्रिय भी एक होता है—स्पर्शन, फिर भी इन्हें सुख और दुःख का संवदेन होता है। इनमें मन नहीं होता परन्तु अनिन्द्रिय ज्ञान होता है।

अनिन्द्रिय ज्ञान : दो अर्थ

अनिन्द्रिय ज्ञान के दो अर्थ हैं। उसका एक अर्थ है—मन और दूसरा अर्थ है—ओघ संज्ञा। आज के विज्ञान ने इस बात को कैसे पकड़ा, यह आश्चर्य का विषय है। वैज्ञानिकों ने माना है—वनस्पति में कलेक्टिव माइंड (ओघ संज्ञा) होता है। वनस्पति के जीव बात को इतने विचित्र ढंग से पकड़ते हैं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसकी हम कल्पना नहीं कर सकते। इस विषय में दो वैज्ञानिकों—डाक्टर बोगले और डॉक्टर बेकस्टर ने बहुत प्रयोग किए। बोगले ने अपने प्रयोगों में देखा—मनुष्य और पौधे एक दूसरे में अपनी चेतना का आदान-प्रदान करते हैं। बेकस्टर ने एक दिन पौधों पर प्रयोग शुरू किए। उसने पोलिग्राफ के संवेदनशील तार से पौधे की शाखा को जोड़ दिया। पौधे ने अपनी भावना जतानी शुरू की। गेल्वेनोमीटर की सूई घूमने लगी। उसने देखा—पौधा प्यासा है। उसने पानी डाला। पुनः सूई घूमी, पौधे ने अपना हर्ष प्रकट कर दिया। उसने सोचा—पौधों से और भी बातें करनी चाहिए। पौधों को आवेश में लाने के लिए उसने एक पत्ती को तोड़ा और उसे कॉफी में डाल दिया। कोई खास प्रतिक्रिया नहीं हुई। उसने सोचा—इसे जला डालूं। यह चिन्तन आया और गेल्वेनोमीटर की सूई घूमने लगी। बेकस्टर को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसे पूरा भरोसा हो गया कि पौधा हर बात को पकड़ता है।

पौधा हमारे मस्तिष्क के भावों को भी पकड़ लेता है, हजारों प्रयोगों के बाद वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं। इस सन्दर्भ में वैज्ञानिकों ने बड़े विचित्र प्रयोग किए हैं। सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी ने पौधों को अपनी पार्टी का सदस्य घोषित किया है। अन्य साम्यवादी देशों में भी परिवर्तन हुए, दृष्टिकोण बदला। जैसे जैसे पेरासाइकोलोजी का विकास हुआ, वनस्पति जगत के प्रयोग सामने आए, सूक्ष्म सत्यों का पता चला तो आस्थाएं हिल गईं। कई बार विरोध का स्वर उभरा—इन प्रयोगों को बन्द कर दिया जाए अन्यथा मार्क्सवाद की जड़ें उखड़ जाएंगी। हम जब तक इन्द्रिय जगत में रहते हैं तब तक हमारी धारणाएं चार्वाक की धारणाएं बनी रहती हैं—हमें कोई लेना-देना नहीं है, मजे से रहना है, जो चाहे करें, इसी में जीवन का सार है। किन्तु जब हम सूक्ष्म सत्यों को जानते हैं, हमारी धारणाएं बदल जाती हैं, हमारा दायरा बड़ा हो जाता है। व्यक्ति का जीवन बदल जाता है। वह सोचता है—इस दुनिया में दूसरे भी हैं, मैं अकेला ही नहीं हूं, इसलिए मुझे संयम करना चाहिए।

जीव-संयम का प्रश्न

महत्त्वपूर्ण प्रश्न है—यह जीव-संयम और अजीव-संयम का सिद्धान्त क्यों आया? यह जीव-संयम का सिद्धान्त पर्यावरण का सिद्धान्त है। जीव के प्रति संयम करो। जीव-संयम तब आवश्यक लगा जब सूक्ष्म सचाइयों को जाना गया। आज हमारे सामने लाई डिटेक्टर, पोलिग्राफ आदि बहुत से यन्त्र हैं किन्तु उस समय सूक्ष्म बातों को जानने का कोई यन्त्र नहीं था। केवल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपनी अतीन्द्रिय चेतना से सारी बातों को पकड़ा गया।

महावीर ने कहा—तुम देखो। वनस्पति आदि में अव्यक्त चेतना है। उनकी चेतना व्यक्त नहीं है। उन्हें कष्ट कैसे होता है? सुख की अनुभूति कैसे होती है? इसे स्थूल उदाहरण की भाषा में समझाया। उन्होंने कहा—एक आदमी आँख से अन्धा है, वाणी से मूक है और कानों से बहरा है। आँख और कान इन दो इन्द्रियों के न होने का मतलब है जगत से सम्पर्क का विच्छेद। आँख से देखकर या कान से सुनकर हम अपनी भावना व्यक्त करते हैं। जीभ से बोलकर हम अपनी बात कहते हैं। जो व्यक्ति अन्धा भी है, बहरा और मूक भी है, वह न देख सकता है, न बोल सकता है, न सुन सकता है। ऐसे प्राणी को अगर कोई सताता है तो क्या उसे कष्ट होता है?

'हां भंते! होता है।'

'कैसे होता है?'

'भंते! कष्ट होता ही है पर वह उसे प्रगट नहीं कर सकता।'

भगवान ने कहा—'इसी प्रकार सूक्ष्म जीवों को चोट पहुंचाने पर कष्ट होता है किन्तु उनके पास न कान है, न आँख और न जीभ है। उनके पास ऐसा कोई साधन नहीं है, जिससे वे अपनी वेदना को अभिव्यक्ति दे सकें। उनमें भी निरन्तर प्राणधारा बह रही है, इसलिए वेदना तो होगी ही।'

आज के वैज्ञानिकों ने उस प्राणधारा का नाम दिया है—कॉस्मिक रे—जागतिक प्राणशक्ति। उसे सब प्राणी भोग रहे हैं।

महावीर ने दूसरा उदाहरण दिया—एक आदमी मूर्च्छित हो गया। मूर्च्छा में उसे कष्ट होता है या नहीं? हमें इसका पता नहीं चलता, पर अन्तश्चेतना में वह कष्ट का वेदन जरूर करता है। एक ज्ञान की शक्ति होती है, जो मूर्च्छित अवस्था में भी बात को पकड़ लेती है। इसी आधार पर उन्होंने कहा—जैसे मूर्च्छित आदमी कष्ट का अनुभव करता है, उसे व्यक्त नहीं कर पाता, वैसे ही सूक्ष्म जीव कष्ट का अनुभव करते हैं, चाहे वे उसे व्यक्त न कर पाएं।

आचारांग सूत्र में इन उदाहरणों के द्वारा सूक्ष्म जीवों की संवेदना को व्यक्त किया गया है। आधुनिक वैज्ञानिक प्रयोग इस संवेदना के तथ्य को और स्पष्ट कर रहे हैं। इस सुख-दुःख की अनुभूति के बारे में मॉडर्न रिसर्च पुस्तक में जो व्यापक विश्लेषण किया गया है, उससे यह धारणा स्पष्ट हो जाती है कि सूक्ष्म जगत में इन्द्रिय चेतना और उससे परे अतीन्द्रिय चेतना का अस्तित्व विद्यमान है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमारे सामने दो जगत हैं—सूक्ष्म जगत और स्थूल जगत (दृश्य जगत)। स्थूल जगत व्यक्त चेतना वाला जगत है और सूक्ष्म जगत अव्यक्त चेतना वाला जगत है। अव्यक्त चेतना का अर्थ है—सूक्ष्म जीवों की इन्द्रियां विकसित नहीं हैं, किन्तु उनकी अन्तश्चेतना तीव्र है। आज भी मनुष्य ने अपनी इन्द्रियों को पाकर कुछ खोया भी है। उसने अपनी अतीन्द्रिय चेतना के दरवाजे बन्द कर लिए हैं। प्रत्येक व्यक्ति के पास इन्द्रियातीत चेतना है। हम उसे प्रातिभ-ज्ञान कहें या प्रज्ञा कहें, वह प्रत्येक मनुष्य के पास है। जरूरत है सूक्ष्म नियमों को जानने की, एकाग्र होने की और इन्द्रियों से कम काम लेने की। अतीन्द्रिय चेतना के जागरण के लिए एक संतुलन अपेक्षित है। यदि हम इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता का सूत्र सीख जाएं तो हमारी अतीन्द्रिय चेतना जाग सकती है, सूक्ष्म जगत के सूक्ष्म प्राणियों के साथ हमारा तादात्म्य हो सकता है।

विकास की प्रक्रिया : मूल तत्व

विकास की प्रक्रिया का मूल आधार है गति। दूसरी भाषा में त्रस-जीव विकास की प्रक्रिया के मूल तत्व हैं। स्थावर-सृष्टि से हम त्रस-सृष्टि पर आएं। स्थावर पेड़ बढ़ जाते हैं, वनस्पति बढ़ जाती है पर नया निर्माण कुछ भी नहीं होता। हमारी गति ही सारे नव-निर्माण का आधार बनती है। पाँच स्थावर के बाद छठा स्थान है त्रस-जगत का। उसी को भगवान महावीर ने संसार कहा है—एस संसारेत्ति पवुच्चई। संसार का मतलब ही गतिशील होना है। स्थिरता का नाम संसार नहीं है।

हमारा यह संसार त्रस-जीवी है। इसी ने मकान बनाए हैं, कपड़े बनाए हैं, फसलें उगाई हैं। एक जनरल स्टोर में इतने आइटम रहते हैं कि जिन्हें देखने के लिए कोई व्यक्ति चला जाए तो पूरा दिन देखने में ही बीत जाए। बाजार लोगों की भीड़ से भरे रहते हैं। साड़ियों की दुकान पर महिलाओं की भीड़ लगी रहती है। जनरल स्टोर पर रोजमर्रा के काम आने वाले पदार्थों को खरीदने के लिए लोग आतुर दिखाई देते हैं। इतने प्रकार की खाने और पहनने की चीजों का विकास हुआ है, जिनकी गिनती करना भी सहज सम्भव नहीं होता।

प्रश्न है—क्या इतने पदार्थों की जरूरत है? आदमी ने कृत्रिम आवश्यकता का बहुत विस्तार कर लिया है। गति का यह एक परिणाम है। इस गतिशीलता ने विकास और निर्माण की गति को आगे बढ़ाया है। साथ-साथ इसने मनुष्य में लोभ और सौन्दर्य की भावना को भी आगे बढ़ाया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। इसका परिणाम है—आज आदमी स्वयं में सुन्दर नहीं रहा। वह कपड़े सुन्दर पहनना चाहता है पर स्वयं सुन्दर नहीं है। वह अपने आपमें सजा हुआ नहीं है पर अपने आपको सजाना चाहता है। अनेक व्यक्ति सेंट लगाते हैं किन्तु क्या वे यह नहीं जानते कि यह कैसे बनता है? यदि व्यक्ति सेंट बनाने की प्रक्रिया को जान ले तो शायद उसे लगाना बन्द कर दे। एक जानवर होता है बिज्जु। उसकी यौनग्रंथि से जो स्राव होता है, उसमें बहुत सुगन्ध होती है। उस बिज्जु की यौनग्रन्थि को पीट-पीटकर स्राव कराया जाता है और उसी स्रावित पदार्थ से बहुत सारे सेंट बनते हैं।

एक छोटा-सा प्राणी है बीवर। उसका चमड़ा बहुत मुलायम होता है। रोएँदार कोट बनाने के लिए उस बीवर को मारा जाता है।

क्रूरता की पृष्ठभूमि

शक्तिशाली आदमी कमजोर को मारता है, यह एक सिद्धान्त-सा बन रहा है। मनुष्य को सोचने की शक्ति मिली है किन्तु वह प्राणियों के साथ जो अन्याय कर रहा है क्या वह युक्तिसंगत है? मनुष्य के शौक ने कितनी क्रूरता को जन्म दिया है, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। थोड़े से आराम, बड़प्पन और सौन्दर्य के लिए कितना अन्याय किया जा रहा है। लोग कहते हैं—आतंकवाद बढ़ रहा है। आदमी को तिनके की तरह मारा जा रहा है। यदि आदमी के चरित्र को देखें तो और क्या परिणाम आ सकता है? यह एक चक्र है। यदि हजार आदमी क्रूरता करेंगे तो लाखों आदमी क्रूर बन जाएंगे। क्रूरता के पीछे क्या है? इस पर हम ध्यान केन्द्रित करें। उसकी पृष्ठभूमि में है—रुपया, आराम, सुन्दर दीखने की प्रवृत्ति और बड़प्पन की भावना। समाचार-पत्र में पढ़ा—कस्तूरी मृग समाप्त होते चले जा रहे हैं। पश्चिमी देशों में इसकी बहुत मांग बढ़ गई है। अब इसका उपयोग शस्त्रों में होने लगा है इसलिए इसका मूल्य बढ़ गया है। मृगों को मारने वाले अवैध तरीके से मारने लगे हैं। कस्तूरी मृग का अस्तित्व ही विलुप्त सा हो गया है। शिकारी के लिए यह एक व्यवसाय है। रुपये के लोभ ने, प्रसाधन और सौन्दर्य के लोभ ने जिस क्रूरता को जन्म दिया है, वह दिल को दहलाने वाली है।

आज हाथियों को मारा जा रहा है। हाथी-दाँत बेचने पर भी सरकार द्वारा प्रतिबन्ध लगाया जा रहा है। चर्म के लिए बाघों-चीतों को मारना शुरू कर दिया गया है। जिस प्राणी से भी पैसे मिलते हैं, उसे मारा जा रहा है किन्तु यह बात नई नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हम आचारांग सूत्र को पढ़ें। किन-किन कारणों से जीव मारे जाते हैं, उनका विशद वर्णन आचारांग सूत्र में है—

कुछ व्यक्ति शरीर के लिए प्राणियों का वध करते हैं।

कुछ लोग चर्म, मांस, रक्त, हृदय, पित्त, चर्बी, पंख, पूँछ, सींग, विषाण, हस्तिदंत, दाँत, दाढ़, नख, स्नायु, अस्थि और अस्थिमज्जा के लिए प्राणियों का वध करते हैं।

कुछ व्यक्ति प्रयोजन वश प्राणियों का वध करते हैं।

कुछ व्यक्ति बिना प्रयोजन प्राणियों का वध करते हैं।

कुछ व्यक्ति (इन्होंने मेरे स्वजन वर्ग की) हिंसा की थी, यह स्मृति कर प्राणियों का वध करते हैं।

कुछ व्यक्ति (ये मेरे स्वजन वर्ग की) हिंसा कर रहे हैं, यह सोचकर प्राणियों का वध करते हैं।

कुछ व्यक्ति (ये मेरे स्वजन वर्ग की) हिंसा करेंगे, इस संभावना से प्राणियों का वध कर रहे हैं।

क्या करुणा जागेगी?

प्रश्न है—क्या मनुष्य की वृत्तियां बदलेंगी? क्रूरता कम होगी? क्या करुणा जागेगी? ऐसा लगता है, तब तक करुणा को जगाने का प्रयत्न सफल नहीं हो सकता जब तक लोभ को कम करने का प्रयत्न सफल न हो जाए। प्रेक्षाध्यान शिविर के दौरान एक प्रश्न प्रस्तुत हुआ—क्रोध को कम करने के लिए ज्योति-केन्द्र पर ध्यान कराया जाता है। नशा छुड़ाने के लिए अप्रमाद केन्द्र पर ध्यान कराया जाता है। भयवृत्ति को कम करने के लिए आनन्द केन्द्र पर ध्यान कराया जाता है। लोभ की वृत्ति को मिटाने के लिए किस केन्द्र पर ध्यान कराना चाहिए? मैंने कहा—इस विषय में मैं स्वयं उलझन में हूं। अन्य वृत्तियों को बदलने के सूत्र तो हाथ लग गये हैं पर लोभ की वृत्ति को बदलने का सूत्र अभी पकड़ में नहीं आया है।

हमारा त्रस-जगत कितना सुन्दर है। पशु, पक्षी, निर्विघ्न विचरते तो यह त्रस-जगत, यह संसार कितना सुन्दर होता, कृत्रिम अभयारण्य बनाने की कोई जरूरत नहीं होती। पर मनुष्य ने अपने लोभ, सौन्दर्य और लालसा की भावना के कारण भयंकर क्रूरता को जन्म दिया और संसार की सारी सुन्दरता को तहस-नहस कर दिया। आज व्यक्ति सोचता है—पर्यावरण का प्रदूषण न हो। यह उसकी कृत्रिम चिन्ता है। जब तक महावीर की वाणी का मूल्यांकन नहीं किया जाएगा, अहिंसा के सिद्धान्त पर ध्यान केन्द्रित नहीं होगा तब

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तक न यह संसार सुन्दर रहेगा, न यह त्रस-सृष्टि विकास की दशा में आगे बढ़ पाएगी और न पर्यावरण सुरक्षित रहेगा।

पर्यावरण का मौलिक सूत्र

इस विश्व में मैं अकेला नहीं हूं। केवल मेरा ही अस्तित्व नहीं है—यह पर्यावरण विज्ञान का मौलिक सूत्र है। प्रत्येक व्यक्ति अपने आस-पास सभी दिशाओं में पर्यावरण का कवच पहने हुए श्वास ले रहा है। उसके परिपार्श्व में जीव और अजीव—दोनों का पर्यावरण है। भगवान महावीर ने कहा—मिट्टी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति—इन सबमें जीव है। उनके अस्तित्व को अस्वीकार मत करो। उनके अस्तित्व के अस्वीकार का अर्थ है—अपने अस्तित्व का अस्वीकार। अपने अस्तित्व को अस्वीकार करने वाला ही उनके अस्तित्व को नकार सकता है। स्थावर और जंगम, दृश्य और अदृश्य—सभी जीवों का अस्तित्व स्वीकारने वाला ही पर्यावरण के साथ न्याय कर सकता है।

अचेतन जगत के अस्तित्व को भी अस्वीकार मत करो। इस संसार में रहने वाली प्रत्येक चेतन सत्ता अचेतन की ओढ़नी ओढ़े हुए है। जीव जीव को प्रभावित करता है। वह अजीव को भी प्रभावित करता है। अजीव जीव को प्रभावित करता है। ये प्रभाव की धाराएं बहुत संक्रमणशील हैं। इसलिए कोई भी व्यक्ति अकेला नहीं है। हिमालय की गुफा में बैठा अकेला व्यक्ति भी अपने साथ पूरे संसार को लिए बैठा है।

दूसरों के अस्तित्व, उपस्थिति, कार्य और उपयोगिता को स्वीकार करने वाला ही व्यक्ति और समाज के बीच सामंजस्य स्थापित कर सकता है।

अहिंसा सामंजस्य का सूत्र है। पर्यावरण विज्ञान और अहिंसा में अभिन्नता है। यह विज्ञान इस शताब्दी की देन है। अहिंसा का सिद्धान्त बहुत पुराना है। भगवान महावीर ने अहिंसा को अनेक पहलुओं से देखा। उनमें एक पहलू है पर्यावरण विज्ञान।

पर्यावरण असंतुलन क्यों?

भगवान महावीर ने पर्यावरण का आधार ही नहीं दिया, उसकी क्रियान्विति का मार्ग भी सुझाया—'जिन जीवों की हिंसा के बिना तुम्हारी जीवन-यात्रा चल सकती है, उनकी हिंसा मत करो। जीवन-यात्रा के लिए जिनका उपयोग अनिवार्य है, उनकी भी अनावश्यक हिंसा मत करो।' पदार्थ का भी अनावश्यक उपभोग मत करो। इस निर्देश के संदर्भ में वर्तमान पर्यावरण की समस्या की समीक्षा आवश्यक है। आज पृथ्वी का अतिरिक्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मात्रा में दोहन किया जा रहा है। इससे जगत का संतुलन बिगड़ रहा है। ऊर्जा के स्रोत समाप्त होते जा रहे हैं। खनिज भंडार खाली होता जा रहा है। आज के वैज्ञानिक ऊर्जा के नए स्रोत की खोज में लगे हुए हैं साथ-साथ उपलब्ध स्रोतों की समाप्ति से चिन्तित हैं। पानी का अतिमात्रा में उपयोग किया जा रहा है। आशंका है कि एक दिन पीने का पानी दुर्लभ हो जाएगा। जंगलों और पेड़ों की अंधाधुंध कटाई के परिणाम अनेक प्रदेश भुगत रहे हैं। वर्षा की कमी का बहुत बड़ा कारण माना जा रहा है पेड़ों का कट जाना।

इच्छा और भोग, सुखवादी और सुविधावादी दृष्टिकोण ने हिंसा को बढ़ावा दिया है और साथ-साथ पर्यावरण का संतुलन भी विनष्ट किया है। अहिंसा का सिद्धान्त आत्मशुद्धि का है तो साथ-साथ वह पर्यावरण शुद्धि का भी है। पदार्थ सीमित हैं, उपभोक्ता अधिक हैं और इच्छा असीम है। अहिंसा का सिद्धान्त है—इच्छा का संयम करना, उसकी काँट-छाँट करना। जो इच्छा पैदा हो, उसे उसी रूप में स्वीकार न करना, किन्तु उसका परिष्कार करना। आज के वैज्ञानिक और उद्योगपति मनुष्य के सामने अधिक-से-अधिक सुविधा के साधन प्रस्तुत करना चाहते हैं। जो पहले कभी नहीं बने, वैसे पदार्थों का निर्माण कर उन्हें जन-साधारण के लिए सुलभ करना चाहते हैं। एक ओर जनता का सुविधावादी दृष्टिकोण बन गया है, दूसरी ओर सुविधा के साधनों के निर्माण की होड़ लगी हुई है। जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएं कुछ गौण बन गई हैं, सुविधा के साधन और प्रसाधन सामग्री—ये मुख्य बन गए हैं। इस स्थिति में अनावश्यक हिंसा बढ़ी है और साथ-साथ पर्यावरण का संतुलन भी बिगड़ा है।

हिंसा और अहिंसा का प्रारंभिक बिन्दु

आज पर्यावरण के प्रदूषण का कोलाहल बहुत हो रहा है। पर वह प्रदूषण कैसे मिटे? सुविधावादी आकांक्षा की आग जले और प्रदूषण का धुआं न उठे, यह कब संभव है? अहिंसा के सिद्धान्त की उपेक्षा कर पर्यावरण प्रदूषण की समस्या को सुलझाया नहीं जा सकता। जिस प्रकार उद्योग जगत और व्यवसाय जगत मनुष्य को अधिक-से-अधिक सुविधावादी बना रहा है उसी प्रकार अहिंसानिष्ठ लोग उसे अहिंसक बना सकें, तभी पर्यावरण के प्रदूषण की समस्या का समाधान संभव बन सकता है। अहिंसा को बहुत स्थूल अर्थ में समझा जा रहा है, उसकी गहराई में जाने का प्रयत्न कम हो रहा है। हिंसा का प्रारंभिक बिन्दु किसी को मार डालना नहीं है और अहिंसा का प्रारंभिक बिन्दु किसी को न मारना ही नहीं है। हिंसा का प्रारंभ बिन्दु है—दूसरे जीव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के अस्तित्व को न स्वीकारना, पदार्थ के अस्तित्व को भी न स्वीकारना। अहिंसा का प्रारम्भिक बिन्दु है—छोटे-से-छोटे जीव और छोटे-से-छोटे पदार्थ—परमाणु तक के अस्तित्व को स्वीकारना और उनके साथ छेड़छाड़ न करना। अपने अस्तित्व की भाँति दूसरों के अस्तित्व का भी सम्मान करना।

यह आत्मौपम्य का सिद्धान्त अहिंसा का पहला सिद्धान्त है। पदार्थ के अपरिग्रह का सिद्धान्त अहिंसा का उच्छ्वास है, प्राणतत्त्व है। यही अहिंसा का सम्यग्दर्शन है। जो लोग इस दर्शन को नहीं जानते, वे अपने संकुचित स्वार्थों की सीमा में जीते हैं। उनकी पूर्ति के लिए हिंसा का उच्छृंखल प्रयोग करते हैं और पर्यावरण का प्रदूषण भी पैदा करते हैं। हिंसा की बाढ़ केवल आध्यात्मिक दृष्टि से ही अवांछनीय नहीं है किन्तु पर्यावरण की दृष्टि से भी अवांछनीय है। इहलौकिक और पारलौकिक—दोनों दृष्टियों से अवांछनीय है। इसलिए महावीर ने कहा था—

एस खलु गंथे - हिंसा ग्रंथि है।
एस खलु मोहे - यह मोह है।
एस खलु मारे - यह मृत्यु है।
एस खलु नरए - यह नरक है।
तं से अहियाए - हिंसा मनुष्य के लिए हितकर नहीं है।
तं से अबोहीए - वह बोधि का विनाश करने वाली है।

इस स्वर का उदात्तीकरण ही पर्यावरण-प्रदूषण में उलझे समाज में एक नया प्रकंपन पैदा कर सकेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा

सत्ता और हिंसा का गठबंधन बहुत पुराना है। शक्तिशाली लोग सत्ता को हथियाते रहे हैं। उसके लिए हिंसा का सहारा भी लिया जाता है। आज की चुनावी हिंसा उसी का नया संस्करण है। सब लोगों में समान बुद्धि और समान शारीरिक शक्ति नहीं होती। यह बुद्धि और शक्ति की विषमता हिंसा का दरवाजा खोल देती है। प्राकृतिक वातावरण, भौगोलिकता, भाषा, सभ्यता और संस्कृति की समानता एक इकाई बनती है। हमारी पृथ्वी पर ऐसी अनेक इकाइयां बनी हुई हैं। शक्तिशाली लोग इन इकाइयों को अपने अधिकार में लेना चाहते हैं। यह क्रम राजतंत्र में भी चला था और लोकतंत्र में भी चल रहा है। राजतंत्र राज्य-विस्तार के आधार पर चलता था और लोकतंत्र दल-विस्तार के आधार पर चल रहा है। हिंसा बढ़ती है या घटती है, यह प्रश्न दूसरे नम्बर पर है। पहले नम्बर का प्रश्न है—दल की शक्ति बढ़ती है या घटती है।

केन्द्रित शक्ति में हिंसा की संभावना अधिक होती है। लोकतंत्र का अर्थ है—शक्ति का विकेन्द्रीकरण। यदि तंत्र विकेन्द्रित नहीं है, लोकतंत्र राजतंत्र से भी अधिक खरतनाक बन जाता है। चुनाव द्वारा सरकार का परिवर्तन, यदि लोकतंत्र की सीमा इतनी हो तो मानना होगा—यह सत्ता पर अधिकार करने का एक नया विकल्प है। राजतंत्र में सत्ता पर अधिकार पैतृकता से होता था और लोकतंत्र में सत्ता पर अधिकार पैतृकता से नहीं होता। यह अन्तर स्पष्ट है। सत्ता पर आसीन होने के पश्चात् जो अन्तर होना चाहिए, वह परिलक्षित नहीं है। सत्ता के विकेन्द्रीकरण के बिना यह संभव नहीं है। केन्द्रित सत्ता और केन्द्रित अर्थव्यवस्था में हिंसा को पनपने का अधिक मौका मिलता है।

सत्ता और अर्थव्यवस्था विकेन्द्रित हो

अहिंसा की दिशा में प्रस्थान तभी संभव है जब सत्ता और अर्थव्यवस्था विकेन्द्रित हो। विकेन्द्रित व्यवस्था में सत्तासीन व्यक्ति से अधिक विनम्र, मृदु और व्यवहार-कुशल होने की अपेक्षा की जा सकती है। जनता की समस्या समझने और सुलझाने की अधिक संभावना की जा सकती है। केन्द्रित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्ता-सम्राट् के लिए अहंकार से बच पाना अत्यन्त कठिन है। उस स्थिति में अपना आग्रह जितना प्रभावी रहता है, यथार्थ उतना प्रभावी नहीं रहता। अयथार्थ चिन्तन और निर्णय समस्या को और अधिक जटिल बना देते हैं।

पूर्वांचल में जो हिंसा हो रही है, बिहार जिस हिंसा की आग में झुलस रहा है और कश्मीर में जो हिंसा की आग प्रज्वलित है, क्या इन सबके पीछे राजनैतिक स्वार्थ और शोषण का चक्र नहीं है? ढाई हजार वर्ष पहले भी हिंसा होती थी। छोटे-छोटे राजा आपस में लड़ते रहते थे। अपने-अपने राज्य की सीमा को बढ़ाने में लगे हुए थे पर महाभारत की ध्वंसलीला के बाद युद्ध और शस्त्र विषयक ज्ञान-विज्ञान काफी लुप्त हो चुका था। इसलिए मध्यकालीन युद्ध खतरनाक नहीं थे। उनका व्यापक प्रभाव नहीं होता था। आज की हिंसा बहुत व्यापक और बहुत सशक्त है। उसके पास साधन-सामग्री की प्रचुरता है। तलवार और भाले में वह मारक शक्ति नहीं थी, जो आज रायफल, रिवाल्वर, मशीनगन और प्रक्षेपास्त्रों में है।

बुझती नहीं है आग

चुनाव का उद्देश्य है—जनता की स्वतंत्र आकांक्षा का सम्मान। चुनाव में भी बलप्रयोग और प्रलोभन—दोनों का खुलकर प्रयोग होता है। अनेक बार हिंसा भी भड़क उठती है। फिर स्वतंत्रता का सिद्धान्त कैसे सुरक्षित रह सकता है? बड़े युद्ध सदा नहीं लड़े जाते। बड़ी हिंसा भी सदा नहीं होती। छोटी-छोटी हिंसा सदा से चल रही है। इसका अर्थ है—आग बुझती नहीं, उसकी चिंगारियां उछलती रहती हैं। वही आग कभी-कभी महाज्वाला बन महायुद्ध का रूप ले लेती है। सत्ता से जुड़े लोग भी इस वास्तविकता का अनुभव करने लगे हैं। यह एक सुखद घटना है।

रूसी नेता मिखाइल गोर्बाचेव ने अमेरिका में एक बार जो वक्तव्य दिया, वह इसी से आन्दोलित स्वर है। उन्होंने कहा—'मानव जाति यह अनुभव करने लगी है कि लड़ाइयां बहुत हो चुकीं। अब इन्हें सदा के लिए बन्द कर देना चाहिए। दो विश्वयुद्धों तथा उसके पश्चात् चल रहे शीतयुद्ध और छोटी-मोटी लड़ाइयों के कारण करोड़ों व्यक्तियों ने अपने प्राण गंवाए हैं और गंवा रहे हैं।

विश्वशान्ति के उद्देश्य की ओर बढ़ाने का मार्ग सरल नहीं है। किन्तु हमें उन करोड़ों लोगों की आकांक्षाएं आगे बढ़ने के लिए प्रेरित कर रही हैं, जो यह समझने लगे हैं कि बीसवीं शताब्दी की समाप्ति के इस चरण में अब मानव जाति और मानव सभ्यता के सामने विभिन्न व्यवस्थाओं या वादों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बीच चुनाव का प्रश्न नहीं है। आज एक ओर मनुष्य की सहज बुद्धि और उसकी जिजीविषा तथा दूसरी ओर उत्तरदायित्वहीन, संकुचित और स्वार्थी राष्ट्रीय पूर्वाग्रहों के बीच चुनाव का प्रश्न है।'

इस वक्तव्य में सचाई की स्पष्ट अभिव्यक्ति है। सत्ता और अधिकार-विस्तार का आग्रह हिंसा को पल्लवित करता है। भगवान महावीर ने कहा था—णो अज्झावेयव्वा—किसी पर शासन मत करो। यह अहिंसा का संदेश बहुत व्यापक और बहुत गुरुतर है। इतना गुरुतर भार हर आदमी शायद न उठा सके पर शासन-विस्तार की भावना से बचा जाए तो विश्व शान्ति का मार्ग सीधा-सरल हो जाता है। क्या वर्तमान शासक सचमुच विश्वशान्ति चाहते हैं? क्या सचमुच हिंसा को कम करना चाहते हैं?

सांप्रदायिक कट्टरता और हिंसा

मेरे सम्प्रदाय में आओ, तुम्हारी मुक्ति हो जाएगी, अन्यथा नहीं होगी। इस घोषणा ने साम्प्रदायिक कट्टरता और हिंसा—दोनों को एक साथ जन्म दिया। इसी अवधारणा के आधार पर प्रलोभन और बलप्रयोग के द्वारा सम्प्रदाय परिवर्तन की परम्परा का सूत्रपात हुआ। बहुत लोग कहते हैं—धर्म के नाम पर रक्तपात हुआ, युद्ध हुए, हिंसा की होली खेली गई। वास्तव में यह कहना भ्रान्त है। यह सब धर्म के नाम पर नहीं हुआ। किन्तु सम्प्रदाय-परिवर्तन की धारणा के आधार पर हुआ। मनुष्य में सहज ही विस्तार की भावना होती है। वह अपने आपको बड़ा बनाना चाहता है। अपने विचारों के अनुयायियों की संख्या बढ़ाना चाहता है। मैं सोचूं वैसे सब सोचें, मैं करूं वैसे सब करें, सब मेरा अनुगमन करें, यह चाह एक अदम्य चाह है। इसी चाह ने युद्ध लड़े, संघर्ष को जीवन्त बनाया।

धर्म का प्रश्न नितान्त भिन्न है। उसकी आध्यात्मिक अवधारणा में संघर्ष जैसा कुछ है ही नहीं। अंधकार ने शिकायत की—सूरज मेरा पीछा कर रहा है। मैं जहां जाता हूं, वहीं वह पहुंच जाता है और मुझे भगा देता है। सबको जीने का अधिकार है। प्रभु! आपके राज्य में फिर मेरे साथ ऐसा क्यों? प्रभु ने सूरज को बुला भेजा और अंधकार की शिकायत के बारे में पूछा। सूरज बोला—मैं जानता ही नहीं, अंधकार क्या है और कहां है? मैंने आज तक उसकी सूरत भी नहीं देखी कि वह कैसा है? फिर पीछा करने और भागने की बात कहां?

धर्म के बारे में भी यही कहा जा सकता है कि उसने युद्ध की आकृति भी नहीं देखी। लड़ाई, संघर्ष और युद्ध क्या है, वह जानता भी नहीं। उसका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकछत्र साम्राज्य है मैत्री, क्षमा और भाईचारा। धर्म आंतरिक तत्व है। सम्प्रदाय संगठन है। संगठन बाहरी होता है। जो बाहरी है, उसके साथ संघर्ष और युद्ध जुड़ सकते हैं। महावीर ने कहा था—'एक व्यक्ति धर्म छोड़ देता है, सम्प्रदाय नहीं छोड़ता और एक व्यक्ति सम्प्रदाय छोड़ देता है, धर्म नहीं छोड़ता।' उनके सामने दोनों चित्र साफ थे। धर्म को छोड़ने वाला भूमि को रक्तरंजित कर सकता है। सम्प्रदाय को छोड़ने वाला वैसा नहीं कर सकता। धर्म नहीं है, कोरा सम्प्रदाय है, वहां सब कुछ हो सकता है। अहिंसा के लिए दो विकल्प हैं—केवल धर्म अथवा धर्म से अनुप्राणित सम्प्रदाय।

कुछ धार्मिक धर्म, सम्प्रदाय और जाति—तीनों को एक धागे में पिरोई माला मानते हैं। उनके लिए धर्म और सम्प्रदाय को अलग करना संभव नहीं है और इसीलिए प्रलोभन, बलप्रयोग और युद्ध का वर्जन भी उनके लिए संभव नहीं है। जीवन के प्रत्येक कार्य पर धर्म की छाप हो, उसका प्रभाव हो—यह वांछनीय है। किन्तु प्रत्येक कार्य धर्म की प्रेरणा से प्रेरित अथवा धर्मानुमोदित हो, इस प्रकार की सोच वांछनीय नहीं है। धार्मिक अवधारणा के क्षेत्र में कुछ ऐसा मिश्रण हुआ है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्य को धर्मानुमोदित मानकर अपने मन को ललचाना पसन्द करता है। वह अधर्म का कार्य करता ही नहीं। जो कुछ करता है, धर्म का ही करता है। इस भ्रान्तिपूर्ण दृष्टिकोण ने हिंसा को बढ़ावा दिया है। प्रत्येक कार्य में धर्म का प्रभाव हो, इसका अर्थ है अनैतिक आचरण से बचना तथा अनावश्यक हिंसा से बचना। प्रत्येक कार्य को धर्मानुमोदित मानने का अर्थ है अपने अनैतिक या हिंसायुक्त आचरण को भी सम्यग् मानना और उसे धर्म की छत्रछाया में संरक्षण देना। दोनों अवधारणाओं का यह अंतर जितना स्पष्ट होता है, उतनी ही अहिंसा की संभावना बढ़ती है।

अवांछनीय है हिंसा के बीज

हिंसा की घटनाएं बढ़ जाती हैं या उग्र हो जाती हैं तब समाज का ध्यान हिंसा की अवांछनीयता की ओर आकृष्ट होता है। उसके बीज की ओर ध्यान बहुत कम जाता है। इसका फलित यही हो सकता है कि हिंसा के प्रति समाज की चिन्ता भावना के स्तर पर है, यथार्थ के स्तर पर नहीं है। समाज का एक बड़ा भाग ऐसा भी है जो हिंसा को स्वाभाविक मानता है। यथार्थ के स्तर पर हिंसा की समस्या पर वे ही लोग सोचते हैं जिनकी भावनाओं का उदात्तीकरण हुआ है, परिष्कार हुआ है और सत्य के साथ जिनका तादात्म्य स्थापित हुआ है। जिनकी भावनाएं आवेशमूलक हैं, उनके लिए हिंसा कोई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेष समस्या नहीं है। जब कोई बड़ी हिंसात्मक घटना घटित होती है, तब उनमें एक प्रकंपन पैदा होता है और वे हिंसा को समाज के लिए दुःखद मानने लगते हैं।

दो विश्व-युद्धों से प्रभावित और प्रताड़ित जनता में हिंसा के प्रति जो विमनस्कता पैदा हुई है, वह उससे अप्रभावित लोगों में नहीं है। इसी कारण जिन लोगों ने साम्प्रदायिक कट्टरता के कटु परिणाम भोगे हैं, उनमें साम्प्रदायिक हिंसा के प्रति आक्रोश उभरा है। वह दूसरे लोगों में नहीं है। क्या यह संभव हो सकता है कि हिंसक घटनाओं के सन्दर्भ में हिंसा की अवांछनीयता पर हम न सोचें। हम सोचें—हिंसा के बीज अवांछनीय हैं। उनका उन्मूलन आवश्यक है। अन्यथा वे कभी भी हिंसक घटना को जन्म दे सकते हैं।

अपराध के लिए उत्तरदायी कौन?

वास्तविक सचाई और व्यावहारिक सचाई के बीच एक दूरी है। वह दूरी अतीत में थी और आज भी है। मानवीय दुर्बलता पहले भी थी और आज भी है। मनुष्य आदर्श की बात करता है, उसे जीना पसन्द नहीं करता। उसके भीतर महानता और अल्पता—दोनों के बीज विद्यमान हैं। महानता के बीज को जब सिंचन मिलता है, तब वह आदर्श की ओर चरण बढ़ाता है। अल्पता के बीज सक्रिय होकर उसे आदर्श विमुख बना देते हैं। यही हेतु है वास्तविक सचाई और व्यावहारिक सचाई की दूरी का।

अहिंसा वास्तविक सचाई है। भगवान महावीर ने कहा—अहिंसा सब जीवों का कल्याण करने वाली है। जैसे भूखे के लिये भोजन, प्यासे के लिए जल और पक्षी के लिए आकाश सहारा है, वैसे ही अहिंसा सबके लिए सहारा है। व्यवहार की समस्या प्रबल बनती है, तब आदमी इस वास्तविक सचाई को आंखों से ओझल कर देता है। पुत्र और पुत्री के जन्म-प्रसंग के आधार पर इसका अंकन किया जा सकता है। भारतीय मानस में पुत्र के जन्म के साथ भविष्य की संभावना और सुरक्षा की भावना जड़ी हुई है। ये संभावनायें ही भ्रूण हत्या जैसे जघन्यतम अपराध के लिए उत्तरदायी हैं।

अकडं करिस्सामि—जो कार्य किसी ने नहीं किया, वह मैं करूंगा—यह धारणा भी आदमी को वास्तविक सचाई से दूर ले जाती है। वैज्ञानिक जगत में एक होड़ लगी हुई है कुछ नया खोजने की और कुछ नया करने की। नया खोजना बुरा नहीं है, किन्तु जिस नयी खोज के साथ मानव जाति के विनाश की बात जुड़ी हुई हो, वह नयी खोज निश्चित ही अवांछनीय है। मैक्सिको के डॉक्टरों ने पार्किसन (एक प्रकार का कंपनशील लकवा) से पीड़ित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दो रोगियों के मस्तिष्क में भ्रूण के टिस्सुओं का प्रत्यारोपण किया। उससे उन रोगियों को काफी राहत मिली। प्रश्न राहत का नहीं है। प्रश्न है नैतिकता का, औचित्य का। क्या एक रोगी को ठीक करने के लिए एक भ्रूण की हत्या करना उचित है? क्या इसे नैतिक कार्य माना जा सकता है?

आचार्य भिक्षु अहिंसा के मर्मज्ञ थे। उन्होंने अहिंसा को गहरी सूक्ष्म दृष्टि से देखा और उसकी समीक्षा की। उन्होंने एक प्रश्न उपस्थित किया—क्या बड़े जीवों को बचाने के लिए छोटे जीवों की हत्या करना संगत है? इस प्रश्न की समीक्षा के बाद उन्होंने लिखा—जो लोग बड़े जीवों के लिए छोटे जीवों की हिंसा को उचित ठहराते हैं, वे छोटे जीवों के शत्रु हैं। रोगी दुःखी है। उसके दुःख को दूर करना एक डॉक्टर का कर्तव्य हो सकता है, किन्तु यह कर्तव्य कैसे हो सकता है कि अजन्मे बालक को मार कर जन्मे बूढ़े या युवक को बचाएं। भगवान महावीर की वाणी में यह दुःख प्रतिघात के लिए की जाने वाली हिंसा है। रोग एक दुःख है। सेवा का काम करने वाले दूसरे के दुःख का निवारण करना चाहते हैं पर जैसे-तैसे एक के दुःख-का निवारण कर दूसरे को दुःखी बनाना तर्क, बुद्धि और समझ से परे है।

श्रेष्ठता की कसौटी

मनुष्य सब प्राणियों में श्रेष्ठ है—इस धारणा के आधार पर उसके लिए सब कुछ करना क्षम्य मान लिया गया। वर्तमान चिकित्सा के क्षेत्र में लाखों-लाखों मूक पशु परीक्षण के लिए मारे जाते हैं। क्या इस हिंसा के आधार पर जीने वाला आदमी अहिंसा के विकास की बात सोच सकता है? क्या आदमी अमर है अथवा अमर होगा? रोगों की रोकथाम के लिए स्वाभाविक प्रयत्न करना असंगत नहीं कहा जा सकता। अस्वाभाविक प्रयत्नों की जो शृंखला शुरू हुई है, उससे अनेक प्रश्न उभर रहे हैं। क्या इस दुनिया में केवल मनुष्य को ही जीने का अधिकार है? मनुष्य बुद्धिमान प्राणी है, क्या वह इसीलिए सर्वश्रेष्ठ है? इन प्रश्नों का उत्तर आज का पर्यावरण विज्ञानी दे रहा है। पर्यावरण विज्ञान के अनुसार अकेला मनुष्य इस दुनिया में जी नहीं सकता। श्रेष्ठता की कसौटी कोरी बौद्धिकता ही नहीं है। सृष्टि का संतुलन बनाए रखने में जिनका योगदान है, उन सबकी अपने श्रेष्ठता है। उन सारी श्रेष्ठताओं का योग ही यह जगत है। इस स्थिति में मनुष्य के लिए सब कुछ क्षम्य क्यों? मनुष्य के लिए मनुष्य के भ्रूण की हत्या क्या क्षम्य हो सकती है?

प्रश्न जीने और मरने का नहीं है। जन्म लेने वाला हर व्यक्ति मरता है इसलिए मरना कोई अजीब घटना नहीं है। अजीब घटना है गलत मान्यता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और उसके आधार पर होने वाला आचरण। इन गलत मान्यताओं ने प्रकृति के साम्राज्य में अनावश्यक हस्तक्षेप की प्रवृत्ति को जन्म दिया है। यह हस्तक्षेप मनुष्य के कर्तृत्व को दैवी या ईश्वरीय रूप दे सकता है, करने, न करने और अन्यथा करने में उसे सक्षम बना सकता है किन्तु गलत मान्यता और गलत आचरण के कारण मनुष्य में जो क्रूरता उत्पन्न होती है, उसका समाधान कहां से मिले? क्रूरता आज के युग की सबसे बड़ी समस्या है। वह करुणा को निरन्तर लीलती जा रही है। क्या करुणा के बिना मनुष्य मनुष्य रह पाएगा?

मानसिक शान्ति का दृष्टिकोण

आदमी सुख चाहता है, दुःख नहीं चाहता। वह सुख को पाने और दुःख को मिटाने के लिए रास्ते खोजता है। सबसे बड़ा रास्ता है भोग की सामग्री, इन्द्रियों को तृप्ति देने वाले पदार्थ। कभी पदार्थ का निर्माण अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ था। धीरे-धीरे दृष्टिकोण बदलता गया। अब पदार्थ के निर्माण का आधार इच्छापूर्ति और अधिकतम सुविधा है। सीमित इच्छा, सीमित आवश्यकता और सीमित पदार्थ—यह मानसिक शान्ति का दृष्टिकोण है। किन्तु आज के अर्थशास्त्री और अर्थशास्त्रीय कोण से प्रभावित जनमानस को यह मान्य नहीं है।

असीम इच्छा, असीम आवश्यकता और असीम पदार्थ—इस चिन्तन के रंग में रंगा हुआ है वर्तमान का मानस। इसी मानस ने जन्म दिया है पदार्थ प्रधान संस्कृति को और थ्रो अवे की जीवन-शैली को। बनाओ, भोगो और फेंको। जीवन का प्रवाह इस दिशा में मुड़ रहा है। इस धारा से उपज रहा है—मानसिक असंतुलन, अतृप्ति और मानसिक तनाव। इससे हो रहा है पर्यावरण का असंतुलन। प्लास्टिक एक उदाहरण बन सकता है। अभी होड़ है प्लास्टिक के निर्माण की। चारों ओर उससे निर्मित पदार्थ देखे जा सकते हैं। उन्हें बनाना कठिन नहीं है। समस्या है उन्हें फेंकना। वे मिट्टी की भांति मिट्टी में नहीं मिल पाते। वे अपने रूप में बने रहते हैं। यदि उन्हें जलाया जाए तो जहरीली गैस पैदा होती है, इससे पर्यावरण दूषित हो जाता है। एक दिन उन्हें फेंकने के लिए धरती पर स्थान नहीं होगा और समुद्र भी उन्हें पचा नहीं पाएगा। यह समस्या केवल प्लास्टिक से ही पैदा नहीं हो रही है, अनेक पदार्थों के निर्माण से पैदा हो रही है। सुविधावादी और व्यावसायिक दृष्टिकोण से जुड़ा हुआ आदमी इसे आंखों से ओझल कर रहा है। यह एक गंभीर संकट है इस पृथ्वी के लिए और मानव जाति के लिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा की दृष्टि को विकसित किए बिना इस समस्या को सुलझाया नहीं जा सकता।

जीवन-शैली के तीन प्रकार

हिंसा और पदार्थ—दोनों में गहरा अनुबंध है। पदार्थ का अधिक विस्तार हिंसा के विस्तार को जन्म देता है। पदार्थवादी संस्कृति को विकसित माना जा सकता है, हिंसा के विस्तार से मुक्त नहीं कहा जा सकता। भगवान महावीर ने तीन प्रकार की जीवन-शैली का प्रतिपादन किया—

1. अल्प इच्छा—अल्प हिंसा—अल्प परिग्रह
2. महाइच्छा—महाहिंसा—महापरिग्रह
3. इच्छामुक्ति—अहिंसा—अपरिग्रह

जीवन की तीसरी शैली सामाजिक जीवन की नहीं है। अहिंसा और अपरिग्रह के लिए सर्वात्मना समर्पित हो जाना एक विशेष प्रयोग है। जिनकी आध्यात्मिक चेतना अधिक विकसित होती है, उन्हीं के लिए यह संभव बनता है। शेष दो प्रणालियां सामुदायिक जीवन में संभव हैं। वर्तमान की जीवन-धारा दूसरी जीवन-प्रणाली की ओर प्रवाहित है। इच्छा अधिक हो, परिग्रह या पदार्थ अधिक हो और हिंसा कम हो—यह संभव नहीं हो सकता। इच्छा, हिंसा और परिग्रह—इन तीनों की आत्यन्तिक व्याप्ति है। इनमें से किसी एक को पृथक् नहीं किया जा सकता।

जीवन की पहली प्रणाली विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था और विकेन्द्रित सत्ता की जीवन प्रणाली है। पहली प्रणाली मानव की मौलिक मनोवृत्तियों के निकट कम है, दूसरी मौलिक मनोवृत्तियों के निकट अधिक है इसलिए प्राथमिकता दूसरी को अधिक मिलती है, पहली को कम अथवा बिल्कुल नहीं। भगवान महावीर से आचार्य तुलसी तक, महात्मा गांधी से विनोबा तक पहली जीवन-प्रणाली का मूल्य समझाया गया है। फिर भी इन्द्रियों और सुविधाओं का आकर्षण और अहंकार तथा ममकार का दबाव इतना अधिक है कि उस सचाई को समझकर भी नहीं समझा जा रहा है।

खतरे के संकेत

यह आंख-मिचौनी ही है। मनुष्य जीवन की अनेक दिशाओं में आंख-मिचौनी करता रहा है और आज भी कर रहा है। उदाहरण के रूप में ओजोन की छतरी को लिया जा सकता है। वैज्ञानिक सचाई को जानने वाले सब लोग जानते हैं—ओजोन की छतरी की सुरक्षा धरती पर सांस लेने वाले जीव-जगत की सुरक्षा है। उसमें छेद होने का अर्थ है—पूरी मानव जाति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और पूरे जीव-जगत के लिए खतरा पैदा होना। पता चला है कि अंटार्कटिका महाद्वीप के ऊपर ओजोन की छतरी में छेद हो गया है। उसमें दूसरा छेद उत्तरी ध्रुव प्रदेश के ऊपर भी हुआ है। ये छेद वैज्ञानिक जगत को चिन्ताकुल बनाए हुए हैं। सुपरसोनिक विमान और नाभिकीय विस्फोट ओजोन की परत के लिए खतरनाक हैं। रेफ्रिजरेटर और वातानुकूलन की प्रणाली के लिए जिन गैसों का प्रयोग होता है, वे भी ओजोन की परत के लिए कम खतरनाक नहीं हैं।

क्या रेफ्रिजरेटर जीवन के लिए अनिवार्य है? क्या वातानुकूलन के बिना जिया नहीं जा सकता? मनुष्य बुद्धिमान है इसलिए वह अपनी सुविधा के लिए अनेक पदार्थों का निर्माण करता है। वह आदि मानव की भांति प्राकृतिक जीवन नहीं जीता, किन्तु कृत्रिम साधनों का उपयोग करता है। प्रकृति से छेड़छाड़ भी करता है। पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु—इन सबको अपनी सुख-सुविधा के अनुरूप बनाता है। प्रश्न है एक सीमा का। आखिर कहीं तो रुकना जरूरी होता है। बुद्धि रुकना पसंद नहीं करती। इन्द्रियों को भी रुकना पसंद नहीं, फिर हिंसा कैसे रुके?

आर्थिक विषमता और हिंसा

अहिंसा और अपरिग्रह—दोनों को अलग-अलग देखेंगे तो पूरी बात समझ में नहीं आएगी। अपरिग्रह के बिना अहिंसा को नहीं समझा जा सकता। अहिंसा को समझने के लिए अपरिग्रह को समझना जरूरी है और अपरिग्रह को समझने के लिए अहिंसा को समझना जरूरी है।

आदमी हिंसा किसलिए करता है? शरीर के लिए, परिवार के लिए, भूमि और धन के लिए, सत्ता के लिए। ये सब क्या हैं? ये सारे परिग्रह हैं। हिंसा का मुख्य कारण है—परिग्रह। कोई अहिंसा करना चाहे और अपरिग्रह करना न चाहे, यह कभी संभव नहीं है। इच्छा, हिंसा और परिग्रह—तीनों में परस्पर संबंध है। तीनों साथ-साथ चलते हैं। एक व्यक्ति धन कमाना चाहता है। क्या हिंसा के बिना धन का अर्जन संभव है? आज अपरिग्रह को एक नया सन्दर्भ मिला है। इस शताब्दी में दुनिया के अनेक विचारकों ने देखा—हिंसा बहुत है, समाज में असंतोष बहुत है। क्रान्तियां और रक्तपात हो रहा है। चिन्तन के बाद उन्हें लगा, इसका कारण परिग्रह है। आर्थिक विषमता के कारण ये स्थितियां बन रही हैं।

आज अहिंसा हमारे चिन्तन का गौण विषय हो गया, परिग्रह मुख्य विषय बन गया। आज चिन्तन की सारी धारा आर्थिक समानता और आर्थिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषमता—इन दो बिन्दुओं पर टिकी हुई है। आर्थिक समानता रहेगी तो समाज में हिंसा कम होगी, अहिंसा का विकास होगा। एक ओर साम्यवादी विचारधारा के प्रवर्तक मार्क्स ने इस बिन्दु पर ध्यान केन्द्रित किया तो दूसरी ओर अहिंसा के प्रबल समर्थक महात्मा गांधी ने भी इस विषय पर चिन्तन-मंथन किया। मार्क्स अहिंसा की दृष्टि से मुख्य चिन्तन-धारा में नहीं थे। गांधी के पास अहिंसा के चिन्तन के अलावा कोई विकल्प नहीं था; किन्तु दोनों का चिन्तन-बिन्दु एक रहा और वह है आर्थिक समानता। इस बिन्दु पर गांधी और मार्क्स—दोनों ने विचार किया, आर्थिक समानता की दो प्रणालियां प्रस्तुत हो गईं।

गांधी की प्रणाली रही ट्रस्टीशिप की और मार्क्स की प्रणाली का आधार था व्यक्तिगत स्वामित्व की समाप्ति। साम्यवाद ने प्रयोग किया व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त करने का और गांधी ने प्रयोग किया ट्रस्टीशिप का। किन्तु लगता है, दोनों ही प्रयोग सफल नहीं हुए। आर्थिक समानता का प्रश्न बड़ा जटिल है। यदि हम विधायक रूप में चलें तो सारी व्यवस्था गड़बड़ा जाती है। समानता का अर्थ क्या है? यांत्रिक समानता या आर्थिक समानता? समानता का आधार क्या हो? एक परिवार में दो लड़के हैं और एक परिवार में आठ लड़के हैं। समानता क्या काम आएगी? समानता का अर्थ है—सबके पास समान धन और समान साधन। एक परिवार में केवल पति-पत्नी—दो ही सदस्य हैं और एक परिवार में दस से अधिक सदस्य हैं। इस स्थिति में आर्थिक समानता का प्रश्न कहां टिकेगा? इस प्रणाली के सामने इतनी उलझनें आईं कि व्यक्तिगत स्वामित्व के सीमाकरण की बात सफल नहीं हो पाई। व्यक्तिगत स्वामित्व को बन्द करने का परिणाम आया—अर्थ की प्रेरणा कम हो गई, कमाने की प्रेरणा कम हो गई। आज उसे भी बदलना पड़ रहा है।

ट्रस्टीशिप वाली बात जनता के गले ही नहीं उतरी। जो बने, मालिक बने, संरक्षक कोई बना ही नहीं। बड़े-बड़े उद्योगपति तथा जो गांधीजी के निकट रहने वाले थे, उन्होंने अपने लिए इसका उपयोग किया। उद्योग चले, मिलें चलीं। ऐसे मालिक और संरक्षक बने कि अपने लिए लाखों-करोड़ों की लागत से गेस्ट हाउस और बंगले बना लिए, मजदूरों के लिए झोंपड़ियां भी पूरी नहीं बनीं। आर्थिक समानता के सन्दर्भ में ट्रस्टीशिप की बात भी सफल नहीं हुई।

अपरिग्रह : इच्छा परिमाण

हमें मूल बिन्दु को पकड़ना होगा। भगवान महावीर की वाणी में वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बिन्दु उपलब्ध होता है। यदि हम विधायक रूप में आर्थिक समानता की बात करेंगे तो इस समस्या का समाधान नहीं होगा। हम निषेध के द्वारा इस समस्या को समाधान दे सकते हैं। कहीं-कहीं निषेध बहुत काम का होता है। सब जगह विधायक बात सफल नहीं होती। अहिंसा की व्याख्या विधायक रूप में करें तो बड़ी उलझनें हैं। अपरिग्रह की व्याख्या भी विधायक रूप में करें तो उलझनें कम नहीं हैं। हमें निषेध से चलना होगा। किसी को मत मारो, एक गृहस्थ के लिए यह अहिंसा की सबसे अच्छी परिभाषा हो सकती है। इच्छा का परिमाण करो, एक गृहस्थ के लिए यह अपरिग्रह की सबसे अच्छी परिभाषा हो सकती है। गृहस्थ का अपरिग्रह मुनि का अपरिग्रह नहीं है। गृहस्थ के लिए है इच्छा परिमाण।

महावीर बहुत गहराई में जाने वाले व्यक्ति थे। उन्होंने यह नहीं कहा—पदार्थ का परिमाण करो, पदार्थ की सीमा करो। उन्होंने यह भी नहीं कहा—इतना धन मत रखो। महावीर ने कहा—इच्छा का परिमाण करो। इच्छा, परिग्रह और आरम्भ का एक चक्र है। इच्छा अल्प होगी तो परिग्रह और आरम्भ अल्प होगा। जब तक इच्छा को नहीं पकड़ेंगे तब तक न व्यक्तिगत स्वामित्व के समीकरण की बात सफल होगी, न ट्रस्टीशिप की बात सफल होगी। इन दोनों सूत्रों की सफलता तभी संभव है, जब इनकी पृष्ठभूमि में इच्छा के समीकरण का सूत्र हो। इच्छा को ज्यादा बढ़ाना अच्छा नहीं है, यह बात समझ में आने पर ही अपरिग्रह का सिद्धान्त समझ में आ सकाता है। भीतर में इच्छा प्रबल है तो बाहर का उपदेश बहुत काम नहीं देगा। भीतर इच्छा का ऐसा ज्वार उठता है, बाहरी उपदेश कहीं धरा रह जाता है। आदमी ज्यादा परिग्रह जुटाने में लग जाता है। जब तक यह द्वन्द्व नहीं मिटेगा, तब तक समस्या का समाधान नहीं होगा। महावीर ने कहा—इच्छा कम नहीं है, परिग्रह और संग्रह ज्यादा है। इस अवस्था में न तप हो सकता है, न संयम हो सकता है। इच्छा तप, नियम और संयम—सबको समाप्त कर देती है।

आज भी परिग्रह और अपरिग्रह का प्रश्न, आर्थिक समानता और विषमता का प्रश्न बहुत उलझा हुआ है। यदि धर्म इस समस्या का समाधान नहीं दे सकता तो शायद दूसरा कोई भी इस समस्या का समाधान देने में समर्थ नहीं है। यदि धर्म इस समस्या का समाधान नहीं देता है तो वह अपने कर्त्तव्य का कहां तक निर्वाह करता है, यह भी एक प्रश्न है। आर्थिक समस्या को समाधान देना बहुत जटिल है। अहिंसक समाज रचना का प्रश्न लम्बे समय से चल रहा है किन्तु अहिंसक समाज रचना अपरिग्रह की समाज रचना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के बिना कभी संभव नहीं है।

हम एक बिन्दु को पकड़ें। भगवान महावीर के दो सूत्र—इच्छा-परिमाण और भोगोपभोग परिमाण—आर्थिक समस्या को समाधान दे सकते हैं। जब तक इच्छा और भोग का संयम नहीं होगा, तब तक न अहिंसक समाज संरचना का सपना साकार होगा और न ही आर्थिक समस्या सुलझ पाएगी। वर्ग-संघर्ष की क्रान्तियां, हिंसक क्रान्तियां इसलिए होती हैं कि व्यक्ति लोभी और स्वार्थी बन जाता है, केवल अपने भोगोपभोग की ही चिन्ता करता है, संग्रही और परिग्रही बन जाता है। वह अपने आस-पास की ओर ध्यान नहीं देता। यह स्थिति ही क्रान्ति को जन्म देती है।

आर्थिक विकास : आर्थिक संयम

आर्थिक व्यवस्था का सबसे बड़ा सूत्र हो सकता है—पूरे समाज की न्यूनतम आवश्यकताएं पूरी हो जाएं। रोटी, कपड़ा, मकान, दवा और शिक्षा के साधन प्रत्येक व्यक्ति को सुलभ हो जाएं। आर्थिक समानता की बात छोड़ दें। सब व्यक्तियों का कमाने का अलग-अलग ढंग होता है, व्यावसायिक कौशल होता है। कोई अधिक कमाता है और कोई कम। आर्थिक समानता का यांत्रिकीकरण नहीं हो सकता। सब लखपति हों, यह कभी संभव नहीं है। इतना हो सकता है—जीवन की प्रारम्भिक और मौलिक आवश्यकताएं सबको समान रूप से मिलें। अपनी-अपनी विशेष योग्यता से व्यक्ति लाभ कमाए, उसमें दूसरों को आपत्ति न हो। रस्किन और गांधी का मत था—एक न्यायाधिकारी को जितना मिले, उतना ही एक वकील को मिले। इसका मतलब है, जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके, उतना तो अवश्य मिले। यह बात भी तब तक सफल नहीं हो सकेगी, जब तक आर्थिक विकास के साथ-साथ आर्थिक संयम और भोगोपभोग के संयम की बात नहीं जुड़ेगी।

समस्या यह हुई, आर्थिक विकास पर बहुत बल दिया गया, अधिक उत्पादन, अधिक आय और समान वितरण—इन पर बहुत ध्यान दिया गया, किन्तु इनके साथ दो बातों को जोड़ना चाहिए था—आर्थिक संयम और इच्छा का संयम। इनको नहीं जोड़ा गया। परिणाम यह आया, आर्थिक समस्या सुलझ नहीं पाई। इस बिन्दु पर कहा जा सकता है, धर्म के बिना समाज की व्यवस्था लड़खड़ा जाती है। अगर इन दोनों का योग होता, आज के अर्थशास्त्री आर्थिक विकास के साथ संयम की बात को जोड़ देते तो एक नया समीकरण बनता। इच्छा-संयम और भोग-संयम के साथ आर्थिक विकास

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का प्रश्न जुड़ा होता तो गरीब और अमीर के बीच इतना अन्तर नहीं होता, समाज को नये ढंग से सोचने का मौका मिलता, अर्थ और परिग्रह की समस्या भयंकर नहीं बनती। हम भारत के बड़े शहरों को देखें। एक ओर आसमान को छूती अट्टालिकाएं खड़ी हैं तो दूसरी ओर ऐसी झुग्गी-झोंपड़ियों की कतारें लगी हैं, जिनको देखकर आदमी का मन वितृष्णा से भर जाता है।

क्या यह अन्तर मिट सकता है? क्या इस स्थिति में आर्थिक समानता की बात सफल हो सकती है? हम देखते हैं, एक ओर अनेक संभ्रांत व्यक्ति शादी-ब्याह में लाखों-करोड़ों रुपये खर्च कर देते हैं, दूसरी ओर लाखों-करोड़ों लोग भूख से पीड़ित हैं। यह कितनी भयानक स्थिति है। कहां इच्छा-परिमाण की बात और कहां अपरिग्रह की बात। अपरिग्रह की बात करने में भी संकोच होता है। हिन्दुस्तान में सैकड़ों उद्योगपति हैं, हजारों-लाखों व्यापारी हैं। उनमें बहुत सारे ऐसे हैं, जिन्होंने अपने जीवन में इच्छा-परिमाण या भोगोपभोग के संयम का स्वर सुना ही नहीं होगा। वे एक ही बात जानते हैं—खूब कमाना, खूब भोगना और शादी-ब्याह में खुले हाथ लुटाना। हिंसा से भी अधिक जटिल है परिग्रह की समस्या। वर्तमान समस्या को देखते हुए अपरिग्रह पर अधिक बल देना जरूरी है। *अहिंसा परमो धर्मः* के साथ-साथ *अपरिग्रहः परमो धर्मः* इस घोष का प्रबल होना जरूरी है। अहिंसा और अपरिग्रह का एक जोड़ा है, उसे काट दिया गया है। उसे वापस जोड़कर ही समाधान की दिशा में आगे बढ़ सकते हैं। जिस दिन *अहिंसा परमो धर्मः* के साथ *अपरिग्रहः परमो धर्मः* का स्वर बुलन्द होगा, आर्थिक समस्या को एक समाधान उपलब्ध हो जाएगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बदलाव कैसे आए?

सरल नहीं है मनुष्य को बदलना। बहुत कठिन है नैतिक मूल्यों का विकास। बहुत-बहुत कठिन है आध्यात्मिक चेतना का रूपांतरण। कठिनतम है आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण। क्या इक्कीसवीं शताब्दी कठिन को सरल बनाने की शताब्दी होगी? बीसवीं शताब्दी पदार्थ के विकास की शताब्दी रही है। इक्कीसवीं शताब्दी अपदार्थ की शताब्दी बने, यह अपेक्षा है। पदार्थ और अपदार्थ—दोनों का सम्यक् योग ही युग की समस्या को सुलझा सकता है। बदलाव केवल बदलाव के लिए नहीं, किन्तु नव निर्माण के लिए जरूरी है। मनुष्य की प्रकृति को समझे बिना बदलाव की परिभाषा और व्याख्या नहीं की जा सकती। हजारों-हजारों वर्ष पहले की घटनाओं और मनुष्य के आचार-व्यवहार का अध्ययन करें, साथ-साथ उसके वर्तमान को पढ़ें और भविष्य की कल्पना करें तो तीनों कालखंडों में बहुत ज्यादा अंतर नहीं मिलेगा। अपराध-चेतना से मुक्त और अपराध-चेतना से युक्त—दोनों प्रकार के मनुष्य अतीत में भी थे, वर्तमान में भी हैं और भविष्य में भी होंगे, ऐसा कहा जा सकता है। भाव, विचार, रुचि, ज्ञान और चरित्र की भिन्नता रही है और रहेगी। ऐसा कोई यंत्र नहीं है जो मनुष्य को एक सांचे में ढालकर बाजार में बेच सके। जिस दिन मनुष्य यंत्र का उत्पाद (प्रोडक्शन) बन जाएगा, उस दिन वह मनुष्य की अस्मिता को कायम नहीं रख सकेगा।

हम यह मानकर चलें—इस दुनिया में अच्छाई और बुराई, चेतना का कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष—ये दोनों पंक्तियां समय के पृष्ठ पर अंकित रहने वाली हैं। हजारों वर्ष पहले भी मनुष्य ने प्रयत्न किया—सब लोग अच्छे हों, कोई बुरा न हो, सब सदाचार में निष्णात रहें, कोई अपराधी न हो। आज भी वही प्रयत्न चालू है और ऐसा प्रयत्न निरन्तर होना चाहिए। यदि बुराई मिट नहीं सकती तो फिर उसे मिटाने का प्रयत्न क्यों? इसका उत्तर किसी ग्रंथ अथवा ग्रंथी से पाने की अपेक्षा दीपक, बिजली अथवा सूई से पाना बहुत अच्छा है। अंधकार न कभी मिटा और आज भी नहीं मिट रहा है। सूर्य की रश्मियां अंधकार को प्रकाश में बदल देती हैं। यही काम दीया करता है और बिजली भी करती है। यदि अंधकार से मुक्ति पाने का प्रयत्न न चलता तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसका प्रभुत्व एकाकार हो जाता। मनुष्य की क्या दशा होती? प्राणी जगत के सामने जीने का कोई विकल्प शेष नहीं रहता। प्रकाश का अस्तित्व जीवन-यात्रा को बनाए हुए है और उसने विकास की गति को तेज किया है। यदि मनुष्य को बदलने का प्रयत्न नहीं होता तो हिंसा का एकछत्र साम्राज्य हो जाता। इस अवस्था में न समाज की कल्पना की जाती और न विकास के द्वार को खटखटाया जाता।

अंधकार से प्रकाश की ओर (तमसो मा ज्योतिर्गमय) ले चलने का वैदिक ऋषि का संकल्प सुख और शांति का मूल्यवान मंत्र है। तम को अपरिहार्य मानने वाला सफलता के स्वर को मुखर नहीं बना सकता, विकास के चरण को गति भी नहीं दे सकता। इसलिए मनुष्य को बदलने का प्रयत्न अर्थहीन प्रयत्न नहीं है। मनुष्य के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए उसकी सार्थकता असंदिग्ध है। सदाचार और असदाचार का संघर्ष प्रतिक्षण चल रहा है—कभी व्यक्त रूप में और कभी अव्यक्त रूप में। इस संघर्ष के बिना उन दोनों के बीच भेदरेखा खींचना भी कठिन हो जाता।

मनुष्य को बदलने की जरूरत इसलिए है कि हिंसा बढ़ रही है, उसकी साधन-सामग्री बढ़ रही है। फलतः अशांति, आतंक और तनाव का वातावरण भी गर्मा रहा है। बदलाव का बिन्दु क्या हो? मनुष्य को किस स्तर पर बदलना है? इसका सरलतम उत्तर है—मनुष्य की चेतना को हिंसा से अहिंसा की ओर ले जाना है, 'हिंसातो मा अहिंसां गमय'—इस मंत्रपाठ को शक्तिशाली बनाना है।

बदलाव कैसे आए? इस प्रश्न पर विचार किए बिना बदलने का उद्देश्य और बदलाव का बिन्दु—ये सब आकाश-कुसुम बन जाते हैं। शरीर, मन, भाव-धारा, वातावरण, परिस्थिति, ग्रहों के विकिरण और कर्म के रहस्यों को समझे बिना बदलाव की प्रक्रिया का निर्धारण नहीं किया जा सकता, उसका प्रयोग भी नहीं किया जा सकता। यह माना जाता है कि मनुष्य के स्वभाव पर वंशानुक्रम, परंपरा, पर्यावरण और शरीर-रचना का प्रभाव होता है। उसके भविष्य का निर्माण अतीत की शिक्षा, संगति और विश्वास पर निर्भर है। इस मान्यता में सत्यांश है। उस पर हमारा ध्यान केन्द्रित होना चाहिए। हम किसी एक कारण तत्व का अवलंबन लेकर परिवर्तन की प्रक्रिया को आगे नहीं बढ़ा सकते।

सबसे पहले हम बदलाव के लिए उत्तरदायी रहस्यों को समझने का प्रयत्न करें। परिस्थितिवाद के अनुसार यह माना जाता है—मनुष्य का निर्माण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिस्थिति के अनुरूप होता है और परिवर्तन का निमित्त भी परिस्थिति है इसलिए समाज का ध्यान परिस्थिति को बदलने पर केन्द्रित है। परिस्थिति मनुष्य को प्रभावित करती है, इसमें कोई संदेह नहीं है। वह प्रभावित करने वाले घटकों में एक घटक है। वह परिवर्तन का एकमात्र हेतु नहीं है। वातावरण, पर्यावरण और परिस्थिति की समस्या को सुलझाने में उलझा हुआ मनुष्य समस्या को समाधान नहीं दे सकता। समाधान के लिए अनेकांत का दृष्टिकोण अपनाना जरूरी है। बदलाव के हेतु बाहर हैं, वैसे भीतर भी हैं। परिस्थिति मनुष्य को प्रभावित करती है किन्तु वह मनुष्य के व्यवहार का नियंत्रण नहीं करती। उसका नियंत्रण करने वाले तत्व शरीर के भीतर विराजमान (विद्यमान) हैं। परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं—नाड़ीतंत्र, ग्रंथितंत्र, रसायन और प्रोटीन (न्यूरो-ट्रांसमीटर)। नाड़ीतंत्र दो भागों में विभाजित है—

1. केन्द्रीय तंत्रिकातंत्र 2. परिधिगत तंत्रिकातंत्र

केन्द्रीय तंत्रिकातंत्र के मुख्य अंग दो हैं—

1. मस्तिष्क 2. सुषुम्ना अथवा मेरुरज्जु।

इनके रहस्यों को समझे बिना व्यक्ति को नहीं बदला जा सकता। व्यक्ति को बदले बिना समाज को नहीं बदला जा सकता। आज एक स्वर चतुर्दिक् मुखर है—नए समाज की रचना होनी चाहिए। उसके लिए यत्र-तत्र प्रयत्न भी हो रहा है पर नए समाज की रचना का कार्य आगे नहीं बढ़ रहा है। मस्तिष्कीय प्रशिक्षण की प्रविधि का उपयोग किए बिना वह आगे नहीं बढ़ेगा, यह भविष्यवाणी की जा सकती है।

परिस्थितिवादी दृष्टिकोण ने मनुष्य के अस्तित्व को बहुत गौण कर दिया। उसमें परिस्थिति को बदलने की जितनी आतुरता है, उतनी अपने आपको बदलने की नहीं है। परिस्थिति को एक साधन के रूप में रेखांकित किया जा सकता है। उसमें कर्तृत्व का आरोप करना बहुत बड़ी भ्रांति है। इस भ्रांति ने मानवीय पौरुष और कर्तृत्व को काफी हानि पहुंचाई है। न्यायशास्त्र में प्रभाण का एक दोष माना गया है अन्योन्याश्रय। एक घुड़सवार से पूछा गया, 'यह घोड़ा किसका है?' उसने उत्तर दिया, 'जिसका मैं सेवक हूं।' 'तू किसका सेवक है?' उत्तर मिला, 'जिसका यह घोड़ा है।' दोनों उत्तर प्रश्नकर्त्ता को किसी निर्णय पर नहीं पहुंचा सके। आदमी कब बदलेगा? इस प्रश्न का उत्तर दिया जा रहा है—जब परिस्थिति बदलेगी। परिस्थिति कब बदलेगी? जब आदमी बदलेगा। इस उत्तर शृंखला में कोई निर्णय नहीं है। परिस्थिति बदले या न बदले, आदमी बदल सकता है—यह निर्णय की भाषा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। इस भाषा को पढ़ने वाला ही नए समाज की रचना का सपना ले सकता है और उसे साकार कर सकता है।

वर्तमान समाज की व्यवस्था क्या बुरी है? यदि बुरी है तो बुराई के कारक-तत्त्व कौन-कौन हैं, अशिक्षा, गरीबी, शोषण, प्रदर्शन, हत्या, आत्महत्या, चोरी, डकैती आदि बुराइयां पुरानी समाज व्यवस्था में हैं इसलिए नई समाज व्यवस्था की रचना की कल्पना प्रिय लग रही है। क्या नई समाज व्यवस्था में ये बुराइयां नहीं होंगी? क्या कोई यह आश्वासन देने की स्थिति में है? कार्ल मार्क्स ने समाज की नई व्यवस्था का एक ढांचा खड़ा किया था। उन्होंने कब सोचा कि उनकी विचारधारा को मानने वाले ही उसे खंडहर बना देंगे। महात्मा गांधी ने समाज व्यवस्था के महत्त्वपूर्ण सूत्र दिए। यदि उनके आधार पर समाज की रचना होती तो समाज स्वस्थ बन जाता। ऐसा हुआ नहीं। महात्मा गांधी के अनुयायी ही उसकी असफलता के लिए अधिक जिम्मेवार हैं।

असफलता के लिए किसी को जिम्मेवार ठहराना और किसी को उस जिम्मेवारी से मुक्त कर देना हमारी सामान्य प्रकृति है। विश्लेषण करने पर निष्कर्ष दूसरा ही निकलता है। कोई भी नेता किसी मुद्दे पर जनता को इकट्ठा कर सकता है। महात्मा गांधी के साथ भी वैसा ही हुआ। चारों ओर भीड़ इकट्ठी हो गई। स्वतंत्रता के आंदोलन का आकर्षण बढ़ता गया और विजयश्री ने गांधी का वरण कर लिया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् उनका जादुई प्रभाव कम होने लगा। उनके सहकर्मियों का ध्यान सत्ता की कुर्सी पर टिक गया। गांधी ने नए समाज की रचना के लिए अनेक विचार दिए पर सत्ता के सामने उनका मूल्य गौण हो गया। मार्क्स और गांधी ने नए समाज की रचना का शंख फूंका पर उसके लिए वे जनता की चेतना को जागृत नहीं कर सके, स्वल्प अंशों में जागृत चेतना को विस्तार और स्थायित्व नहीं दे सके। मैं फिर उस बात को दोहराना चाहता हूं कि नए समाज की रचना की चेतना को जागृत किए बिना नए समाज की रचना कभी संभव नहीं होगी। कुछ समय के लिए संभव हो भी जाए तो वह चिरकाल तक टिक नहीं पाएगी। अपेक्षा है चेतना को जागृत करने की प्रक्रिया चले।

जागृति की प्रक्रिया के तीन पड़ाव हैं। पहला पड़ाव है विचार, नई व्यवस्था के लिए पुष्ट विचारों का व्यवस्थापन। दूसरा पड़ाव है विचार का संस्कार में परिवर्तन। तीसरा पड़ाव है आचार। विचार और आचार की दूरी स्वाभाविक है। वीतराग मनुष्य के विचार और आचार के तट दो नहीं होते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राग और द्वेष से लिप्त मनुष्य के विचार और आचार के तट दो होते हैं और उनकी दूरी को कभी मिटाया नहीं जा सकता। नदी के इस तट से उस तट पर जाने की सुविधा के लिए सेतु का निर्माण किया जाता है। विचार और आचार की दूरी मिटाने के लिए एक सेतु है और वह है संस्कार। एक विचार की दीर्घकाल तक पुनरावृत्ति करने पर वह संस्कार में बदल जाता है। संस्कार का निर्माण होने पर विचार और आचार की दूरी मिट जाती है। मार्क्स और गांधी के विचारों को संस्कार में बदलने की प्रक्रिया चालू रहती तो नई समाज व्यवस्था का सपना आकार ले लेता।

कार्ल मार्क्स ने नई व्यवस्था के लिए हिंसा को सर्वथा त्याज्य नहीं माना। महात्मा गांधी ने अहिंसा को साधन के रूप में स्वीकार किया। उसके लिए हृदय परिवर्तन की अनिवार्यता मान्य की। हृदय परिवर्तन को विज्ञान की भाषा में मस्तिष्कीय परिवर्तन कहा जा सकता है। इसके लिए सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा आंदोलन आदि अनेक प्रयोग भी प्रचलित किए। वे प्रयोग स्वतंत्रता संघर्ष की अवधि में व्यवहार में आए। स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद वे निर्वीर्य जैसे हो गए। उसका हेतु यही है कि हृदय परिवर्तन की कोई विधि निर्देशित नहीं की गई। स्वतंत्र भारत में सांप्रदायिक दंगे उभरे। उस समय महात्मा गांधी ने बहुत प्रयत्न किया। अपेक्षित सफलता नहीं मिली। तब उन्होंने व्यास के शब्दों में कहा—

ऊर्ध्वबाहुः विरोम्येष, न च कश्चित् शृणोति माम्।

सत्ता और धन का आकर्षण बढ़ता चला गया। उसमें गांधी का दर्शन और प्रयोग राख से ढकी आग जैसा हो गया।

सत्ता और धन की आसक्ति को कैसे कम किया जा सकता है? यह मुख्य प्रश्न है। बहुत सारी समस्याओं के समाधान के लिए इसका उत्तर खोजना बहुत-बहुत जरूरी है। क्या इक्कीसवी शताब्दी वह खोज पाएगी?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिक्षा

इक्कीसवीं शताब्दी में क्या शिक्षा का स्वरूप यही रहेगा, जो बीसवीं शताब्दी में है? यदि यही रहा तो शिक्षा पदार्थ जगत का विस्तार कर पाएगी, किन्तु नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करने वाले आदमी का निर्माण नहीं होगा।

बीसवीं शताब्दी यंत्र, तकनीकी विकास और पदार्थ विकास की शताब्दी रही। वस्तुओं का विकास इतना हो रहा है कि मनुष्य गौण हो गया है, पदार्थ मुख्य बन गए हैं। पदार्थ के मूल्य ने मानव के मूल्य को कम कर दिया है। चिन्तन और क्रिया की यही गति रही तो एक दिन मनुष्य यंत्र के सामने खड़ा होकर अपने आपको दयनीय स्थिति में पाएगा। हम पदार्थ विकास के विरोधी नहीं हैं। हमारा चिन्तन और वक्तव्य यही है कि पदार्थ विकास के साथ चेतना का विकास भी होना चाहिए—जितना पदार्थ का विकास उतना चेतना का विकास। इस क्रम में पदार्थ सिर-दर्द नहीं बनेगा और मनुष्य पदार्थ जगत को ही सब कुछ नहीं मानेगा। हमारी शिक्षा केवल पदार्थ विकास की हो तो मनुष्य तनाव का जीवन जीएगा और यदि हमारी शिक्षा केवल चेतना के विकास की हो तो मनुष्य अभाव का जीवन जीएगा। एकांगी शिक्षा का परिणाम किसी के लिए भी अच्छा नहीं होगा। सर्वांगीण विकास के लिए सर्वांगीण शिक्षा की आवश्यकता है। उसमें पदार्थ विकास और चेतना का विकास—दोनों का प्रशिक्षण मिलेगा। यह पद्धति जीवन का विज्ञान अथवा जीने की कला है।

जीवन क्या है?

जीवन क्या है? यह सबस पहला आर सबसे बड़ा प्रश्न है। पहला इसलिए कि जीवन के होने पर सब कुछ होता है और जीवन न होने पर कुछ भी नहीं होता। मनुष्य की सारी प्रवृत्तियां जीवन के पीछे चलती हैं। जीवन की समाप्ति का अर्थ है—मानसिक, वाचिक और कायिक—सब प्रवृत्तियों की समाप्ति। बड़ा इसलिए कि जीवन के अस्तित्व काल में जिन वस्तुओं का मूल्य होता है; जीवन की समाप्ति के साथ वे वस्तुएं उसके लिए मूल्यहीन हो जाती हैं।

जीवन के मुख्य अंग सात हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. शरीर 2. श्वास 3. प्राण 4. मन 5. भाव/आभामण्डल/लेश्या 6. कर्म 7. चित्त—चेतना, बुद्धि।

इन सात अंगों की समष्टि का नाम है जीवन। किसी एक कोण से होने वाली जीवन की परिभाषा समग्र नहीं हो सकती। जीवन की समग्र परिभाषा के लिए इन सात बिन्दुओं पर ध्यान देना आवश्यक है।

आवश्यक है मानसिक प्रशिक्षण

शिक्षा का प्रमुख अंग है—प्रशिक्षण। प्राचीन साहित्य का एक शब्द है—भावना। उसका अर्थवाहक नया शब्द है—प्रशिक्षण। भावना का अर्थ है—अभ्यास, पुनः पुनः प्रवृत्ति। प्रशिक्षण भी अभ्यासात्मक प्रक्रिया है। नई आदत का निर्माण करना और पुरानी आदत को बदलना, इन दोनों के प्रशिक्षण आवश्यक हैं। विद्यार्थी के लिए पुरानी आदत को बदलने के प्रसंग कम होते हैं, नई आदत का निर्माण करने के प्रसंग अधिक होते हैं।

जीवन की गतिशीलता, निर्मलता और उपयोगिता विकसित हो, यह अच्छा जीवन जीने के लिए जरूरी है। गतिशीलता वैयक्तिक और सामाजिक—दोनों से जुड़ी हुई है। गतिशीलता के घटक तत्व तीन हैं—संकल्प, पराक्रम और कर्तव्यनिष्ठा। ये व्यक्ति के अपने गुण हैं। गतिशीलता के प्रेरक तत्व तीन हैं—प्रेरणा, प्रोत्साहन और समर्थन। ये सामाजिक हैं।

विधायक भावों का विकास जीवन की निर्मलता है। निषेधात्मक भावों की गंदगी निर्मल धारा में मिलकर उसे अपवित्र बना देती है। निर्मलता वैयक्तिक है, पर कोई भी वैयक्तिकता ऐसी नहीं होती, जिसका प्रभाव समाज पर न हो अथवा जो समाज से प्रभावित न हो। वैयक्तिकता और सामाजिकता—दोनों सापेक्ष हैं।

संबंध, परस्परता और उपयोगिता के बिना सामाजिक जीवन की व्याख्या नहीं की जा सकती। शिक्षा का कार्य विद्यार्थी को केवल बौद्धिक और कर्मकुशल बनाना ही नहीं है। उसे समाज के लिए उपयोगी बनाना भी है। वैयक्तिक सुख-सुविधा और धन संग्रह को सर्वस्व मानने वाला समाज के लिए उपयोगी नहीं हो सकता।

त्याग, संयम और स्वार्थ के समीकरण के बिना कोई भी व्यक्ति निर्मल और उपयोगी नहीं बनता। कोरी गतिशीलता बहुत मूल्यवान नहीं होती। निवृत्ति-शून्य प्रवृत्ति ने अनेक समस्याओं को जन्म दिया है। वर्तमान शिक्षा मुख्य रूप से गतिशीलता की शिक्षा है। मूल्य-परक शिक्षा निर्मलता और उपयोगिता की शिक्षा है। दोनों अलग-अलग रहें तो समग्र व्यक्तित्व का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विकास नहीं हो सकता। उनके समन्वय की अपेक्षा है। इस अपेक्षा की अनुभूति हो रही है। क्रियान्विति करने में संभवतः कठिनाई आ रही है। इसका कारण है—शिक्षा के विषयों की बहुलता। एक विद्यार्थी अनेक विषयों को पढ़ता है। उनके सारे कालांश निर्धारित हैं। प्रशिक्षण के लिए कोई कालांश खाली नहीं है। इस स्थिति में नैतिक शिक्षा के लिए मूल्यपरक शिक्षा, जीवन विज्ञान शिक्षा और प्रशिक्षण—ये सब चर्चा के विषय बनकर रह जाते हैं।

व्यक्तित्व का रूपान्तरण अथवा चरित्र का विकास केवल बौद्धिक शिक्षा से संभव नहीं है। इसके लिए प्रशिक्षण आवश्यक है। चरित्र विकास के लिए उत्तरदायी मस्तिष्कीय कोशों को सक्रिय कर सकें, वैसे प्रशिक्षण आवश्यक हैं। जीवन विज्ञान की परिकल्पना से इस विषय पर गहराई से चिन्तन किया गया है। चिन्तन का प्रथम बिन्दु है—जो पढ़ाया जा रहा है, उसमें जो अल्प आवश्यक है, उसे छोड़ा जा सकता है। जो बहुत आवश्यक है, नहीं पढ़ाया जा रहा है, उसे जोड़ा जा सकता है। इसी प्रकार नई कल्पना के साथ शिक्षा की पुनः व्यवस्था की जाए तभी प्रशिक्षण के कालांश की समस्या का समाधान होगा।

ज्ञान की अनेक शाखाएं हैं। कोई भी शिक्षा-संस्थान विद्यार्थी को सब शाखाओं का ज्ञान नहीं करा सकता। उनका चयन होता है। चयन में स्वीकृत शाखाओं का ही ज्ञान कराया जाता है। चयन काल में प्राथमिकता अथवा अनिवार्यता का प्रश्न शिक्षाविदों के सामने रहना चाहिए। क्या चरित्र-निर्माण से संबद्ध शिक्षा अनिवार्यता की सूची में नहीं आ सकती? भूगोल, खगोल और इतिहास का विषय कभी कभार उपयोगी बनता है। चरित्र-निर्माण की शिक्षा सतत उपयोगी है। इस ओर शिक्षाविदों का ध्यान नहीं गया, यह कहना उनके साथ न्याय नहीं होगा। किन्तु यह कहना असंगत नहीं होगा कि इस विषय को शिक्षाविदों ने प्राथमिकता की सूची में नहीं रखा। शिक्षा से इतना ही अवबोध हो रहा है--एक विद्यार्थी भाषा, गणित, कला, इतिहास, भूगोल, विज्ञान आदि का अध्ययन करे और वह शिक्षित होकर सेवा, व्यापार, उद्योग आदि किसी भी जीविकोपयोगी प्रवृत्ति में लग जाए। जीविका जीवन की प्राथमिकता है। इस दृष्टि से इस अवधारणा को बुद्धिशून्य नहीं कहा जा सकता। रोटी जीवन की प्रथम आवश्यकता है। उसकी पूर्ति करने वाली शिक्षा को गलत कहना मिथ्या आग्रह हो सकता है। क्या मनुष्य केवल रोटी के लिए ही है? क्या उसके मस्तिष्कीय विकास की सीमा धन के अर्जन तक ही है? वर्तमान शिक्षा की अवधारणा से यह प्रश्न उत्तरित नहीं है।

बौद्धिक विकास और मानसिक विकास एक नहीं है। उसके मध्य जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भेदरेखा है, उसे स्पष्ट करना आवश्यक है। स्मृति, कल्पना और चिन्तन—मन के ये तीन कार्य बुद्धि की परिधि में हैं इसीलिए सामान्यतः इन्हें बौद्धिक कर्म कहा जाता है। स्मृति अच्छी होती है, लोग कहते हैं—बुद्धि बहुत अच्छी है। चिन्तन की क्षमता अधिक होती है। लोग कहते हैं—बहुत बुद्धिमान आदमी हैं। इन्हें बौद्धिक विकास के रूप में मान्यता मिली हुई है। वास्तव में यह मानसिक विकास है, बौद्धिक विकास नहीं है। निर्णय की शक्ति, विवेक चेतना का जागरण बौद्धिक विकास है। बौद्धिक विकास बढ़े, स्मृति, कल्पना और चिन्तनात्मक मानसिक विकास बढ़े—इस दिशा में शिक्षा सक्रिय है। मानसिक विकास का एक दूसरा पहलू और है। धृति, सहिष्णुता और मनोबल की वृद्धि होना, यह मानसिक पक्ष शिक्षा के क्षेत्र में उपेक्षित है। इसलिए शिक्षा असंतुलित व्यक्तित्व का निर्माण कर रही है। इस पर चिन्तन करना शिक्षा क्षेत्र का काम है अथवा नहीं। यदि उस विकास को पारिवारिक वातावरण, सामाजिक परिस्थिति, धार्मिक परिवेश आदि पर छोड़ा जाए तो शिक्षाविदों को इस विषय में श्रम करने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि उस विकास का माध्यम शिक्षा बने, यह अभीष्ट है तो मानसिक प्रशिक्षण के सभी पहलुओं को शिक्षा में जोड़ना अनिवार्य है।

शिक्षा : दार्शनिक आधार

'बच्चा कोरा कागज है। उस पर जो चाहो सो लिखो'—यह अवधारणा विमर्शनीय है। इस अवधारणा के पीछे वातावरण और परिस्थितिवाद का सिद्धान्त काम कर रहा है। व्यक्ति वैसा बनता है, जैसा वातावरण होता है। परिस्थिति के सांचे में ढलकर ही वह अपने आपको स्थापित करता है, इस स्वीकृति में सचाई है पर वह अधूरी है। पूर्ण सचाई के लिए अन्तर्जगत और बाह्य जगत—दोनों में समन्वय का सूत्र खोजना होगा। व्यक्ति की क्षमता का मूल आधार है उसका अंतर्जगत। उसकी अभिव्यक्ति का आधार है बाह्य जगत। तर्कशास्त्र की भाषा में यह उपादान और निमित्त कारणों का योग है। केवल उपादान से क्षमता अभिव्यक्त नहीं होती, केवल निमित्त से वह उत्पन्न नहीं होती। यदि वातावरण और परिस्थिति ही सब कुछ है तो समान वातावरण और समान परिस्थिति में रहने वाले सभी विद्यार्थी समान योग्यता वाले होने चाहिए किन्तु ऐसा होता नहीं है। प्रत्यक्ष दर्शन यह है कि प्रतिकूल वातावरण में पलने वाला भी योग्य हो जाता है और अनुकूल वातावरण में पलने वाला भी योग्य नहीं हो पाता। मस्तिष्कीय रचना तथा चेतना के विकास की उपेक्षा कर हम इसकी व्याख्या नहीं कर सकते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिक्षा जगत में चेतना और मस्तिष्क विद्या की उपेक्षा हुई है इसलिए व्यक्ति के सर्वांगीण विकास की बात उसमें नहीं जुड़ पाई। केवल एकपक्षीय विकास ही शिक्षा का आधार बना हुआ है। वातावरण और परिस्थिति को बदलने का प्रयत्न अर्थहीन नहीं है पर केवल परिस्थिति को बदलने से क्या मनुष्य अच्छा बन जाएगा? सामाजिक जीवन परिस्थितियों का चक्र है। एक के बाद दूसरी परिस्थिति आती रहती है। विद्यार्थी छात्रावास में रहा, उसे वहां अच्छा वातावरण मिला, वह शिक्षा प्राप्त कर घर में गया। घर की परिस्थिति उसके अनुकूल नहीं है। वह प्रतिकूल परिस्थिति में अपना संतुलन खो बैठेगा। उसने अब तक अनुकूल परिस्थिति को देखा है। वह प्रतिकूल परिस्थिति को कैसे झेल पायेगा? क्या उसकी विकसित चेतना कुण्ठाग्रस्त नहीं हो जाएगी? शिक्षा का काम है—विद्यार्थी में अनुकूल और प्रतिकूल—दोनों प्रकार की परिस्थितियों को झेलने की क्षमता पैदा करना। उस क्षमता को पैदा करने के लिए जीवन के आंतरिक पक्ष को समझना जरूरी है।

वर्तमान शिक्षा बौद्धिकता के विभिन्न पक्षों को विकसित करने में सफल रही है। आज का शिक्षित व्यक्ति चिन्तन के क्षेत्र में पीछे नहीं है। कार्मिक दक्षता के क्षेत्र में वह बहुत आगे है। जीविकोपार्जन के नए-नए आयाम खोलने में उसने गति की है। बहुत सारे विद्यालय विद्यार्थी को अनुशासित करने में भी सफल हुए हैं। इस सफलता की पृष्ठभूमि में आंतरिक योग्यता और बाहरी वातावरण—दोनों का योग मिला है। इतना होने पर भी जो कुछ शेष है उस पर शिक्षा जगत का ध्यान आकर्षित होना चाहिए। व्यक्ति की मानसिक शांति और सामाजिक सुव्यवस्था आंतरिक और बाहरी परिष्कार से ही संभव हो सकती है।

बच्चा कोरा कागज नहीं है। उसमें आनुवंशिक संस्कार हैं, कर्मज संस्कार हैं। संस्कार-कोश में अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के संस्कार तत्व विद्यमान हैं। अच्छे वातावरण और अच्छी परिस्थिति में बुरे संस्कार-बीज भूमिगत और अच्छे संस्कार-बीज अंकुरित हो जाते हैं। परिस्थिति बदलती है, आंतरिक क्रम भी बदल जाता है। अच्छे संस्कार के बीज भूमिगत और बुरे संस्कार के बीज अंकुरित हो जाते हैं। वातावरण या परिस्थिति सदा एक रूप रहे, यह इस दुनिया में संभव नहीं। जो संभव है, उस ओर हमारा ध्यान कम जाता है। जो संभव नहीं है, उस ओर हमारा ध्यान केन्द्रित बना हुआ है। शिक्षा का उद्देश्य अच्छे वातावरण में रखकर विद्यार्थी को अच्छा बनाया जाये, इतना ही नहीं होना चाहिए। उसका उद्देश्य होना चाहिए संस्कार-बीज का परिष्कार।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भय, अहंकार, क्रोध, लोभ, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष और वासना के संस्कार-बीज प्रत्येक बच्चे में होते हैं। उसे जीविकोपयोगी विद्या के साथ वह विद्या भी पढ़ाई जाए, जिससे वह अपने संस्कारों का परिष्कार करता रहे।

संस्कार का संबंध पूर्वजन्म के साथ है। एक बच्चा पूर्वजन्म से अपने साथ संस्कार-बीज लेकर आता है। शिक्षा प्रणाली में पूर्वजन्म का सिद्धान्त सबको मान्य हो, यह अनिवार्य नहीं। पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का प्रश्न दर्शन और धर्म के क्षेत्र का प्रश्न है। क्या यह शिक्षा के क्षेत्र का प्रश्न नहीं है? सहज ही यह चिन्तन स्फुरित हो सकता है कि शिक्षा पर विचार करते समय हमें इस प्रश्न की गहराई में जाना चाहिए। यह प्रश्न दर्शन, काव्यानुशासन, मनोविज्ञान, परामनोविज्ञान और आनुवंशिकी सबके परिप्रेक्ष्य में आलोचनीय है।

अधूरी शिक्षा : मस्तिष्क का अधूरा विकास

दर्शन की दो धाराएं हैं। एक धारा में पुनर्जन्म मान्य है। दूसरी धारा में वह मान्य नहीं है। दार्शनिक दृष्टि से दोनों धाराओं की शिक्षा का आधार भिन्न है, फिर भी एक बिन्दु पर दोनों एक आसन पर बैठ जाते हैं। वह बिन्दु है नैतिकता। सामाजिक जीवन में नैतिकता का मूल्य सबके लिए है। समाज-जीवन के तीन आधार-स्तम्भ हैं—पारस्परिकता, नैतिकता और मानवीय सम्बन्ध। शिक्षा के द्वारा ये फलित होने चाहिए। फल मूल (रूट) के अनुरूप ही होता है।

'नैतिक शिक्षा' यह शब्द शिक्षा के क्षेत्र में बहुत चल रहा है। हम इससे सहमत नहीं हैं। शिक्षा की समायोजना में नैतिकता के आधार तत्व समाविष्ट होने चाहिए। उनका विकास एक विद्या शाखा के रूप में किया जा सकता है। हमने नैतिक शिक्षा के स्थान पर 'जीवन विज्ञान' शब्द का चयन किया है। नैतिकता सहज फलित हो जाती है।

एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को आलंबन—सहारा देना नहीं जानता, उस स्थिति में समाज स्वस्थ नहीं रहता। एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के साथ संबंध अच्छा नहीं है। वह अपने आपको उच्च जाति वाला मानता है, दूसरे को निम्न जाति वाला मानकर उससे घृणा करता है, संबंध कटु हो जाते हैं। साम्प्रदायिक कट्टरता भी मानवीय संबंधों को मधुर नहीं बनने देती। कुछ लोग सोचते हैं—धार्मिक शिक्षा से नैतिकता फलित हो सकती है। यह सोच पूर्णतः मिथ्या भी नहीं है और पूर्णतः सत्य भी नहीं है। धार्मिक चिन्तन का नैतिकता फल है, इसमें कोई सन्देह नहीं है किन्तु धर्म की उर्वरा में ही जातिवाद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और संप्रदायवाद के बीज बोए गए हैं, बोए जा रहे हैं। इस स्थिति में धार्मिक शिक्षा से नैतिकता के फलित होने की आशा नहीं की जा सकती। एक विद्यार्थी को जीने की कला सिखाई जाए, शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक स्वास्थ्य और भावनात्मक स्वास्थ्य का बोध कराया जाए तो नैतिकता के प्रति सहज आकर्षण उत्पन्न हो सकता है। वर्तमान में अर्थ के प्रति अत्यधिक आकर्षण हो रहा है। सामाजिक जीवन में अर्थ की अनिवार्यता को कोई नकार नहीं सकता। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'—इस सचाई को झुठलाने का परिणाम भी अच्छा नहीं है। अर्थ के अति आकर्षण ने नैतिकता के दृष्टिकोण को धूमिल बना दिया है। व्यापार, उद्योग, शासन और प्रशासन—इन सबमें नैतिक मूल्यों की अवहेलना हो रही है। सुविधा के साधनों की स्पर्धा, गरीबी और महंगाई अनैतिकता के पनपने के लिए उर्वरा बनी हुई है। यह वास्तविकता का एक पहलू है। इसका दूसरा पहलू यह है—विद्यार्थी को प्रारम्भ से ही नैतिक मूल्यों तथा उनके लाभालाभ से परिचित नहीं कराया जाता।

विश्वविद्यालय के प्रांगण में यत्र-तत्र मूल्यपरक शिक्षा का स्वर सुनाई दे रहा है। यह नैतिकता की शिक्षा का नया संस्कार है। यह स्वर बौद्धिक शिक्षा की अपर्याप्तता से उपजा हुआ है। जीवन-रथ को केवल बौद्धिकता के चक्र पर नहीं चलाया जा सकता। उसको गतिमान बनाने के लिए नियंत्रण का चक्र भी आवश्यक है। मानसिक आकांक्षाओं, इन्द्रियगण की उच्छृंखल मांगों और मानसिक विक्षेपों पर नियंत्रण करने की विधि सीखे बिना विद्यार्थी मानसिक अनुशासन और मानसिक शान्ति के उपयुक्त नहीं बनता, नैतिकता के वातावरण का निर्माण नहीं कर सकता।

मूल्य बोध केवल अध्ययन का विषय नहीं है। यह शिक्षा का विषय है। अध्ययन की शिक्षा के अन्दर छिपे हुए भेद को समझना जरूरी है। अध्ययन का अर्थ है—पाठ और शिक्षा का अर्थ है—अभ्यास। पाठ परीक्षा के लिए हो सकता है, अभ्यास निष्ठा के बिना नहीं हो सकता। निष्ठा जगाने का प्रयत्न बौद्धिक, भावनात्मक—दोनों स्तरों पर होना चाहिए। उसमें आंतरिक और बाहरी आयामों का स्पर्श होना चाहिए। अर्थार्जन के प्रति आकर्षण इसलिए है कि उसका फल प्रत्यक्ष है। नैतिकता, आर्थिक पवित्रता और सदाचार के प्रति आकर्षण इसलिए नहीं है कि इनका फल प्रत्यक्ष नहीं है। इनका जो फल मिलता है वह भी परोक्ष जैसा ही है, इसलिए इनके प्रति निष्ठा पैदा करना एक जटिल कार्य है। विद्यार्थी जीवन में निष्ठा पैदा करने का कार्य अपेक्षाकृत सरल है। आयु की परिपक्वता, व्यावसायिक स्पर्धा और सुविधा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की उत्कृष्ट लालसा होने पर निष्ठा का निर्माण जटिल होता है। विद्यार्थी जीवन में आयु की अपरिपक्वता होती है, व्यावसायिक स्पर्धा में वह उतरता नहीं है और सुविधा के प्रति भी प्रबल मनोभाव नहीं बनता इसलिए उसमें नए संस्कार का निर्माण करना बहुत जटिल नहीं होता।

शिक्षा का कार्य है अच्छे संस्कार का निर्माण, अच्छी आदतों का निर्माण और अच्छे चरित्र का निर्माण। केवल जीविकोपयोगी शिक्षा के द्वारा वह संभव नहीं है। अनुशासनहीनता और चारित्रिक ह्रास की अनुभूति समाज को हो रही है, उसका हेतु केवल जीविकोपयोगी शिक्षा है। विद्यार्थी का मस्तिष्क अर्थार्जन तथा सुविधा के साधनों की प्रचुरता की शिक्षा से ही शिक्षित होगा, उसमें चरित्र और नैतिकता का कोष्ठ सुषुप्त ही रह जाएगा।

नई पीढ़ी का निर्माण

नई पीढ़ी का निर्माण—इस संकल्पना में पुरानी पीढ़ी और नई पीढ़ी के बीच अवस्थाकृत भेदरेखा नहीं है। उन दोनों के बीच एक गुणात्मक भेदरेखा है। वर्तमान पीढ़ी को पुरानी पीढ़ी से जो विरासत में मिला है, उसमें वांछनीय और अवांछनीय—दोनों प्रकार के तत्त्व हैं। अवांछनीय तत्त्वों की तालिका यह है—

1. आर्थिक विकास ही सब कुछ है।
2. आर्थिक विकास के लिए बौद्धिक विकास बहुत आवश्यक है।
3. आर्थिक प्रधानता वाले युग में नैतिकता अथवा चरित्र विकास संभव नहीं है।
4. मनुष्य सबसे अधिक बुद्धिमान प्राणी है, इसलिए वह सर्वाधिक सुख-सुविधा का उपभोग करने का अधिकारी है।
5. वह अपनी सुख-सुविधा के लिए किसी भी पशु-पक्षी की हत्या करे, यह अनुचित नहीं है।
6. सांप्रदायिक अभिनिवेश, जातिभेद और रंगभेद के आधार पर मनुष्य जाति का विभाजन।
7. कोई धनवान होता है, कोई गरीब, इसका हम क्या करें।
8. भौतिकवादी दृष्टिकोण की प्रधानता।
9. जीवन का मशीनीकरण।

उक्त तत्त्वों ने समाज को रुग्ण बनाया है। स्वस्थ समाज की संरचना की चर्चा बहुत प्रिय है। उसे संभव बनाने के लिए आवश्यक है नए मनुष्य का जन्म और नई पीढ़ी का निर्माण।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नई पीढ़ी का निर्माण करने के लिए नई दिशा की खोज और नए जीवन-दर्शन की व्याख्या करनी होगी। नई दिशा का सूत्र होगा—भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण का संतुलन। नए मनुष्य के जन्म का सूत्र होगा—आध्यात्मिक और वैज्ञानिक व्यक्तित्व का जन्म। केवल भौतिकता की दिशा में चलने का परिणाम है नैतिकता का ह्रास, मानवीय संबंधों में कटुता, संघर्षमय और संहारक शस्त्रों का निर्माण। इस स्थिति को एक नई दिशा का निर्माण करके ही बदला जा सकता है। केवल आध्यात्मिकता से जीवन के लिए उपयोगी साधन-सामग्री नहीं जुटाई जा सकती। केवल भौतिकता से जीवन अच्छा नहीं चलता। अतः सामाजिक मनुष्य के लिए भौतिक और आध्यात्मिक दोनों में संतुलन स्थापित करना अपेक्षित है।

वर्तमान युग वैज्ञानिक युग है। वैज्ञानिक शोधों ने अनेक-अनेक अंधविश्वासों का सन्तुलन किया है। अब धर्म और अध्यात्म को भी वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करना जरूरी है। धर्म और अध्यात्म का पहला सूत्र है सम्यग् दृष्टिकोण। वैज्ञानिक दृष्टिकोण का हृदय है—सत्य की खोज निरन्तर चालू रहे, खोज का दरवाजा बन्द न हो। सम्यग् दृष्टिकोण का मर्म भी यही है। धर्म का दूसरा सूत्र है सम्यग् आचरण। यह भौतिक-विज्ञान का विषय नहीं है। केवल सत्य की खोज का दृष्टिकोण जीवन विकास के लिए पर्याप्त नहीं है। इसके लिए सम्यग् आचरण का पक्ष बहुत जरूरी है। आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व का अर्थ होगा—वह व्यक्ति जिसका दृष्टिकोण वैज्ञानिक है, सत्य की खोज के लिए समर्पित है और जिसका आचरण आध्यात्मिक है। ये दोनों पक्ष व्यक्तित्व को सर्वांगीण बनाते हैं। केवल आध्यात्मिक और केवल वैज्ञानिक—इस विभाजन ने अनेक समस्याएं उत्पन्न की हैं। केवल आध्यात्मिक है और दृष्टिकोण वैज्ञानिक नहीं है, उसमें रूढ़िवाद, अंधविश्वास पनप जाते हैं। केवल वैज्ञानिक है, आध्यात्मिक नहीं हैं, उसमें मानसिक असंतुलन, असंतोष, पदार्थाभिमुखता आदि पनप जाते हैं। नई पीढ़ी में यह विभाजन रेखा समाप्त होनी चाहिए। एक ही व्यक्ति आध्यात्मिक और वैज्ञानिक होना चाहिए।

आर्थिक विकास ही सब कुछ है—इस अवधारणा ने व्यक्ति और समाज को अर्थलोलुप बना दिया है। उसका आध्यात्मिक व्यक्तित्व समाप्त हो चुका है। अर्थ-प्रधान व्यक्ति और समाज में संवेदना और करुणा के स्रोत सूख जाते हैं। श्री रामनंदन ने एंगेल्स के विचारों को उद्धृत करते हुए इस विषय का सम्यग् आकलन किया है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'19वीं सदी का मध्य आते-आते संप्रदायों ने पूंजीवाद से समझौता कर लिया और उनका तीव्र आघात पड़ा उस समय की जगती हुई साम्यवादी विचारधारा पर। इसका परिणाम हुआ कि मार्क्स और एन्गेल्स जीवन के शेष-काल तक, इन्हीं के उत्तर देने में उलझे रहे। मृत्युकाल से कुछ दिन पहले एन्गेल्स ने अपने एक पत्र में स्वीकार किया था 'मार्क्स और मैं अंशतः नवयुवकों में इस भावना के फैलाने का जिम्मेवार हूं कि आर्थिक पक्ष ही सब कुछ है। एक तो विरोधियों के आक्रमणों के जवाब देने में हमें इस पर जरूरत से ज्यादा जोर डालना पड़ा। दूसरे न हमें समय मिला, न अवसर कि दूसरे पक्ष को भी पूरे तौर पर रख सकें।'

इसका नतीजा यह हुआ कि आर्थिक पहलू ही सब कुछ है—ऐसा अर्द्धसत्य ही पूर्णसत्य की तरह समाजवादी साहित्य में प्रचलित हो गया।

मनुष्य सबसे अधिक बुद्धिमान प्राणी है, इसलिए उसे सर्वाधिक सुख-सुविधा का उपभोग करने का अधिकार है, इस अवधारणा ने मनुष्य की श्रेष्ठता के अहं और क्रूरता को जन्म दिया है। उसमें पर्यावरण को प्रदूषित करने की उच्छृंखल मनोवृत्ति पनपी है। भूमि का अतिरिक्त दोहन हुआ है, जंगल कटे हैं, पशु-पक्षियों और जलचरों की सैकड़ों-सैकड़ों प्रजातियां नष्ट हुई हैं। नाड़ीतंत्रीय विकास और बौद्धिक विकास की दृष्टि से मनुष्य सब प्राणियों में श्रेष्ठ हो सकता है, किन्तु श्रेष्ठता का अर्थ यह नहीं कि वह अपनी सुख-सुविधा और मनोरंजन के लिए दूसरे प्राणियों के प्रति निर्दयतापूर्ण व्यवहार करे।

कोई धनवान होता है, कोई गरीब, इसका हम क्या करें, यह अपने-अपने भाग्य का परिणाम है। इस भाग्यवादी अवधारणा ने गरीबी को संस्करण दिया है, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्थाओं को बदलने में अवरोध पैदा किया है।

मनुष्य में परोक्ष के प्रति अधिक आकर्षण रहता है। धर्म परोक्ष सत्ता का प्रतिपादक है इसलिए उसके प्रति जनता में आकर्षण है। धर्म की साधना कठिन है। उपासना का मार्ग सरल है। मनुष्य सरल को अधिक पसन्द करता है। जहां धर्म के साथ नैतिकता नहीं होती, चरित्र का अनुबंध नहीं होता वहां अहं पनपता है, मनुष्य को बांटने की प्रवृत्ति शुरू हो जाती है, जातिभेद और रंगभेद को प्रथम पंक्ति में आसन मिल जाता है।

भौतिक पदार्थ जीवन-निर्वाह के साधन हैं, वे साध्य नहीं हैं। जब

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टिकोण उपयोगिता-परक नहीं रहता तब वे साध्य बन जाते हैं। इस साध्यपरक दृष्टिकोण ने एक मानसिक भ्रांति पैदा कर दी। पदार्थों को येन-केन-प्रकारेण पाने का प्रयत्न शुरू हो गया। साधन-शुद्धि का विचार अस्तित्व में नहीं रहा। उसी का परिणाम है—जीवन का मशीनीकरण। युग ही यांत्रिक नहीं हुआ है, मनुष्य भी यंत्रवत् जी रहा है। क्यों जी रहा है? यह लक्ष्य भी स्पष्ट नहीं है।

नई पीढ़ी के निर्माण का तात्पर्य है—इन अवधारणाओं से मुक्त मनुष्य और समाज का निर्माण। उसका साधन होगा—समन्वयवादी दृष्टिकोण, अपने भीतर झांकने का उपक्रम, अहिंसा का प्रशिक्षण, मानवतावादी दृष्टिकोण का विकास, अणुव्रत की आचार-संहिता का अनुशीलन और अभ्यास, सहिष्णुता, अनुशासन और कर्तव्यनिष्ठा की अनुप्रेक्षाओं के प्रयोग। यह प्रयत्न स्वस्थ समाज रचना और स्वस्थ व्यक्ति निर्माण की दिशा में एक साथ चले तो नई पीढ़ी के निर्माण की कल्पना साकार हो सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'नैतिक मूल्यों का संकट है'—यह स्वर यत्र तत्र सर्वत्र सुनाई दे रहा है। वह क्यों है ? इस पर गंभीर चिन्तन नहीं होता। प्रश्न है—गम्भीर चिंतन कौन करे ? सत्ता के सिंहासन पर बैठे लोग अगले चुनाव में अपने दल को विजयी बनाने की चिन्ताएं करते हैं। बड़े उद्योगपति और बड़े व्यवसायी राजनीति पर अपना प्रभुत्व बनाए रखने की चिन्ता में व्यस्त हैं। बड़े बड़े साधु-संन्यासी अपने आश्रम और पीठों की ओर जनता को आकृष्ट करने की चिन्ता में व्यस्त हैं। नैतिक मूल्यों के विकास की चिन्ता कौन करे और क्यों करे ? बीसवीं शताब्दी में कुछ नाम अंगुलियों पर आए—राजा राममोहन राय, स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गांधी, आचार्य बिनोवा भावे, आचार्य तुलसी आदि। नैतिक मूल्यों के विकास में इनका महत्वपूर्ण अवदान है। किन्तु वर्तमान अतीत नहीं बनता। आज अपेक्षा है उस व्यक्तित्व की जो जातिवाद, साम्प्रदायिक कट्टरतावाद की भूमि से ऊपर उठा हुआ हो। समस्या को सुलझाने के लिए यह मानदण्ड मेरी दृष्टि में पर्याप्त नहीं है। दो बातें और अपेक्षित हैं—सतत समर्पण और गंभीर चिंतन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org